





मूल्य--दो रुपया बारह आना

प्रकाशक—

चौधरी एण्ड सन्स
बनारस-१.

संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण, अक्टूबर १९५५

मुद्रक—
राष्ट्रभाषा मुद्रणालय,
लहरतारा, बनारस।

१

पं० गोबरधन पाँड़े की एकमात्र जीविका थी, यजमानों की कृपा! और वे इसी आसरे या व्यवसाय पर अपना परिवार चलाये जा रहे थे। उन्होंने कहाँ तक शिक्षा पाई, यह तो मुझे नहीं मालूम, परन्तु बाबा सत्यनारायण स्वामी की कथा बाँचने में तथा तिथि-मुहूर्त एवम् लग्नादि बताने में उनकी बड़ी नामवरी थी। और उनकी इस विद्वत्ता का लोहा बड़े-बड़े लोग नत-शिर हो मानते थे। पंडित जी के शीशपर चोंपदार चुटिया और ललाट पर सदा तीन खड़ी लकीरें खिची रहती थीं। उङ्गलियाँ सर्वदा सुमरनी के दाने गिना करतीं, और बड़े प्रातः-काल स्नानादि से निवृत्त हो, एक आसनी पर बैठ, पंडित जी नित्य कुछ "पूजा-पाठ" भी कर लिया करते थे। पंडित जी का परिवार भी वृहत् न था। पंडित-दम्पत्ति, एक पुत्र और पुत्री, बस। पुत्री बड़ी सुघर, शान्त-प्रकृति और दक्ष बुद्धवाली, सुशील और गुणवती थी। परन्तु पुत्र रामटहल—अपनी भगिनी का प्रतिवाद था। पुत्री-जैसी सुशील थी, रामटहल ठीक वैसा ही उद्धत था। रमा जैसी कोमल-प्रकृति वाली लड़की थी, रामटहल वैसा ही ढीठ, उद्दंड और मुहज़ोर था। पढ़ते थे दोनों, पर रामटहल पढ़ न सका। पढ़ने वाली उसकी प्रकृति भी न थी, इस कारण पंडित-दम्पत्ति का विशेष अनुराग पुत्री रमा पर ही था।

रमा के स्कूल के समीप ही, बालकों का भी एक मि० ई० स्कूल था और इन बालक-बालिकाओं के स्कूल गाँव के बाहर "रेवती" नदी के सुरम्य तट पर बने थे। दोपहरी की छुट्टी के समय बाल, बालिकायें इसी रेवती तट पर खेला करती थीं। अहा! क्या आनंद-दायी था वह रेवती का सुन्दर तट! जिस समय मध्याह्न सूर्य की तेजमयी किरणें रेवती की रजत-आभामयी रज-राशि पर पड़ती थीं, जान पड़ता, मानों प्रकृति ने 'रेवती' को और आकर्षक—और मोहक बनाने के लिये उसे मणि-माणिक्यों से साजा दिया है।

एक दिन, एक दुर्घटना हो गयी। रमा अपनी सहेलियों के संग दुपहरी की छुट्टी में रेवती में स्नान कर रही थी। आमोद-प्रमोद में उलझी वह अथाह जल में चली गई, और लगी डूबने! रमा की सहेलियाँ चिल्ला उठीं—"अरे कोई दौड़ो! दौड़ो!! बचाओ! बचाओ!! रमा डूबी। रमा डूबी!!" इनकी चिल्लाहट सुनकर दो-चार बालक विद्यार्थी दौड़े, जो निकट ही खेल रहे थे। किन्तु उस उमड़ती हुई रेवती की नील लहरों में पड़ी "डुभ-डुभ" करती रमा को निकालने का साहस किसी को न हुआ। साहस-विहीन बालक एक दूसरे को "तुम कूदो, तुम कूदो!!" कह-कह कर अपनी कायरता दिखला रहे थे, कि इतने में न जानें किधर से एक बालक दौड़ता हुआ आया और रेवती की उस प्रलयंकारी लहरों में धम्म से कूद पड़ा। वह रमा के लम्बे केश पकड़कर तट की ओर खींचने लगा। ओफ्! अजीव खींचा-तानी थी। वह बहादुर लड़का रमा का अपनी ओर खींचता और रेवती की लहरें—अपनी ओर! बेचारे के हाथ-पैर चलाते-चलाते थक गये। साँसें ज़ोर से फूलने लगीं, फिर भी बालक अपने प्रयत्न में लगा ही रहा, और अन्त में साहस तथा वीरता की विजय हुई। पूरे आधे घन्टे से अधिक अध्यवसाय के पश्चात् रमा को लिये वह किनारे आया।

वह लम्बी-लम्बी साँसें खींचता तट पर खड़ा था और उसके पाँवों के निकट संज्ञा-शून्य रमा पड़ी थी। आह! बालक और रमा उस समय ऐसे दीखते थे, मानो भक्त अपने प्रणोद्धारक भगवान के चरणों में पड़ा हो। बालक यद्यपि क्लान्त और शिथिल हो रहा था परन्तु उसके पूर्णेन्दु-से पवित्रोज्ज्वल मुखड़े पर सन्तोष की रेखा थी, और बिम्बा जैसे होठों पर सफलता की सुमधुर हँसी नाच रही थी। वह अपने घुँघराले अलकों से पानी निचोड़ता हुआ बोला—मालूम होता है यह पानी बहुत ज्यादा पी गई है, शीघ्र इसके पेट से पानी निकालने का प्रयत्न होना चाहिये, नहीं तो संभव है जान पर भी कुछ आ पड़े।

इसी समय रमा के स्कूल की अध्यापिकाएँ भी आ पहुँची। रमा को "घुमरी" खेलायी जाने लगी और वह धीरे-धीरे पानी उगलने लगी। घन्टों के बाद रमा का मिजाज ठिकाने आया। आँख खोलते ही वह घबराकर बोली—मुझे क्या हो गया है? मुझे इतने लोग घेरे क्यों खड़े हैं?

रमा की प्रधान अध्यापिका बोली—तुम रेवती में डूब रही थी और मरणासन्न ही थी कि इस वीर बालक ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर तुम्हें बचाया। इस वीर को धन्यवाद दो, इसके चरण छूकर प्रणाम करो।

रमा ने बड़े ही स्नेह, कातर एवम् कृतज्ञतापूर्ण लोचनों से अपने जीवन-रक्षक—उस साहसी बालक को देखा जो अब भी गीले परिधानों में खड़ा, अपने परिश्रम का प्रतिफल बड़े उत्सुक नेत्रों से, मंद-मंद मुस्कान से देख रहा था। इन समवयस्क बालक तथा बालिका की चार आँखें आपस में टकरा कर रह गईं और इस उन्मुक्त नेत्रोन्मिलन में कौन-सा निगूढ़तम अज्ञात सन्देश छिपा था, सरल हृदय बालक बालिका इसे न समझ सके। मुख्याध्यापक की आज्ञा से रमा उठी

और, बालक के दोनों चरण स्पर्श कर प्रणाम किया। परन्तु इस परस्पर के स्पर्श से जाने क्यों, दोनों सिहर उठे।

२

जिस दिन से बालक ने रमा को रेवती से उद्धार किया, उसी दिन से रमा के कोरे हृदय पर बालक की मर्मज्ञ-मूर्ति अंकित हो गई। वह बालक को प्यार करने लग गई। भोली और अल्हड़ किशोरी ने प्रेम के कंटकाकीर्ण पथ पर अनजाने में पाँव रख दिया। दोनों ने स्कूल जाने के समय का कुछ ऐसा क्रम रखा कि रास्ते में अवश्य भेंट हो, और "टिफिन" में रेवती तट पर। दोनों, एक दूसरे को देखकर ऐसे पुलकित हो जाते कि उन्हें अपनी भी सुध न रहती। दोनों ही अपने जानते अच्छी-अच्छी चीजें जोगा-जोगा कर एक दूसरे को देने के लिये रखते, और दोनों की यही एकमात्र चेष्टा रहती कि मैं कोई ऐसी अलभ्य वस्तु भेंट करूँ कि वह लोकोत्तम हो और दूसरा कोई भी उसके मुकाबले की चीज़ न दे सके। मध्यान्ह के कलेवा के लिये दोनों ही अच्छी-अच्छी मिठाइयाँ, भाँति-भाँति के स्वादिष्ट पदार्थ लाते और एक दूसरे को खिलाकर तृप्त होते। इधर दोनों ही अपने-अपने को खूब सजाने भी लगे और अपने रूप में आकर्षण लाने की चेष्टा करने लगे। पर क्यों! कारण! ये बेचारे कुछ नहीं जानते थे। इन युगल अनुभव-शून्य स्नेहियों का सम्मिलन-स्थान था स्कूल का पथ और रेवती का तट।

एक दिन रमा ने अपने हाथों बड़े प्रेम से मूँग के लड्डू तैयार किये, और बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ बाँधती उसे बालक को खिलाने

स्कूल ले गई। वह सोच रही थी, ऐसी स्वादिष्ट मिठाई तो उसने न खाई होगी। क्योंकि मैंने बनाया भी है कितने प्रेम और परिश्रम से। रमा दोपहर की छुट्टी में रेवती तट पर बैठी मिठाई लिये कुछ सोच रही थी। परन्तु आज जाने क्यों, बालक अब तक न आया। प्रतीक्षा में बैठी-बैठी रमा अधीर हो गई। ज्यों-ज्यों देर होती, रमा की व्याकुलता बढ़ती जाती। वह कुछ देर इधर-उधर, अपने को बहलाने के लिये घूमी, फिर भी अब तक बालक न आया। बार-बार अब रमा का हृदय धड़कने लगा, और उसके व्याकुल नयन पथ की ओर निहारने लगे, किन्तु बालक का पता तक न था। अब रमा का रहा-सहा धैर्य भी जाता रहा। उसे ऐसा भान हुआ, जैसे उसका हृदय दग्ध हुआ जा रहा हो। व्याकुल हो गई वह, "टिफिन" का समय पूरा हो गया, स्कूल प्रवेश की घण्टी बजी, परन्तु बालक की प्रतीक्षा में तल्लीन रमा को कब सुध थी, जो वह घंटी सुने और स्कूल जाए। अब वह आँखें गड़ाकर पथ की ओर निहारने लगी, मानो उसका कुछ खो गया हो। मन ही मन वह विक्षिप्त हो सोचने लगी—"वह कहाँ गया आज—! अब तक क्यों नहीं आया!—ओफ—! सचमुच मर्दों का दिल बड़ा बेदर्द, बड़ा कठोर और बड़ा निष्ठुर होता है!! उसे इसका क्या पता है, क्या पर्वाह कि मैं कलेवा लिये बैठी-बैठी जल-हीन मछली की नाईं कब से छटपटा रही हूँ। मेरा हृदय जला जा रहा है। मेरी यह पीड़ा वह निर्मोही क्या समझेगा!! हाय! किस उमंग से, उत्साह से मैं उसके लिये मिठाई बनाकर लाई थी? वह झूठ ही कहता है—"रमा जिस दिन मैं तुम्हें नहीं देखता, भोजन अच्छा नहीं लगता!" मैं आज समझी, वह कितना झूठा और कैसा छलिया है!! क्या वह नहीं जानता, मैं रोज उसके आसरे तट पर कलेवा लिये बैठी रहती हूँ और आज भी बैठी रहूँगी! फिर वह क्यों नहीं आया!! सच है,

पुरुषों को हृदय नहीं होता ! लो, रेवती, तुम्हीं खाओ, इन मिठाइयों का खाना आज तुम्हारे ही भाग्य में बदा था ।

साश्रुनयन, निराश-हृदया, भग्न-मना रमा ने रूमाल समेत रेवती में मिठाई डाल दी । मिठाई पाते ही रेवती की लहरें एकबार खिल-खिला उठीं । कौन जाने वे रमा के कष्टमय भविष्य को देखकर हँसी या मिष्ठान्न का पुरस्कार प्राप्त कर प्रसन्न हुईं अथवा उन लहरों ने रमा की "प्रेम-लहरों" की खिल्ली उड़ाई ॥

रेवती से म्लान-मुख लौटकर रमा जब अपने स्कूल में गई तो वहाँ लड़कियाँ सायंकाल की छुट्टी की प्रार्थना कर रही थीं । रमा को धक् से लगा—"अरे, तो क्या मैं १२ बजे से—पूरे चार घंटे तक, तटपर बैठी रही । ओफ् !! कैसी पगली हूँ मैं !!"

छुट्टी हुई, बालिकाएँ घर चलीं, और रमा भी । पर, आज उसका मुख नित्य की नाईं प्रसन्न न था । उसका खिला हुआ मुखड़ा आज मुर्झाया हुआ था । लाल-लाल अधरों पर काली-काली झुर्रियाँ पड़ गयी थीं और वह चिन्तामग्न घर की ओर चली जा रही थी । उसकी सहपाठिनियों ने उसे राह में छेड़ा भी—"रमा ! आज तो देखती हूँ, तुझमें बहुत बुजुर्गी आ गई है ! दोपहर के बाद तू क्लास में भी न दीख पड़ी ? रमा उदास सी बोली—ना-बहन ! आज सर में बड़ा दर्द है ।

रमा ने इस प्रकार झूठ बोलकर अपनी संगिनियों को तो टाल दिया, पर वह अपने आपको कैसे टालती ! वह सोचने लगी, मैं अपनी सहेलियों से झूठ क्यों बोल गई ! मुझे सच्ची बात कहते लज्जा क्यों आई ! इतने में रमा का वह प्रेमी बालक उसके निकट आ पहुँचा और रमा का शान्त, गंभीर तथा खिन्न मुख देख बड़े स्नेहपूर्ण स्वरों में बोला—क्यों, आज तुम्हारी तबीयत कैसी है ? देखता हूँ बड़ी उदास हो । क्या अध्यापिका ने कुछ कहा है ?

रमा ने होंठ बिचकाकर मुँह फेर लिया। बालक के भावों में जितना ही आग्रह, प्रेम और निजत्व था, रमा की उपेक्षा में उतना ही रूखापन, तिक्तता तथा झिझक थी। रमा की इस तिक्त उपेक्षा से बेचारा बालक खिन्न हो गया। सरल-हृदय बालक को इस कठिन दंड-प्रदान का कारण कुछ भी सूझ न पड़ा। उसे आश्चर्य के साथ ही घोर दुख भी हुआ और वह पुनः मृदु शब्दों में बोला—क्यों रमा! मुझपर रंज हो क्या? मैंने तो स्वप्न में भी तुम्हारा कोई नुकसान नहीं किया। किन्तु रमा, बालक की इस कातर-कैफियत पर भी न पिघली। उसके हृदय में नारी-सुलभ मान का जागरण हो गया था। बालक अब रमा के ही पीछे-पीछे चल रहा था, शायद इस आशा से कि रमा अब भी बोले, परन्तु रमा जब बालक से बोले बिना ही नहीं वरन् उसे बिना देखे ही अपने घर में चली गई तो भग्न-हृदय लिये वह घर की ओर लौट पड़ा।

यद्यपि रमा राह में बालक के बार-बार आग्रह और प्रार्थना करने पर भी न बोली, तथापि उसे शान्ति न थी। उसके हृदय में वेदना हो रही थी। वह शिर-पीड़ा का बहाना कर अपने कमरे में जा जी भर रोई। हा! यहीं से अभागिनी रमा का जन्मभर के रुदन का श्रीगणेश हुआ। पुत्री को रोती देख पंडितानी दौड़ कर रमा की खाट पर जा बैठीं और उसका मस्तक अपनी जाँघ पर ले वात्सल्य-विभोर कंठ से बोलीं—क्यों बेटा! क्या माथे में बड़ी पीड़ा है। रमा को अब अपनी अवस्था का ज्ञान हुआ। वह सचेत हुई। अरे, कहीं मैं भयंकर भूल तो नहीं कर बैठी। फिर वह अपनी माँ से बोली—हाँ, माँ! मालूम होता है माथे पर कुल्हाड़ा चल रहा है। पं० गोबरधन भी आए, और उन्होंने भी कई बार कुश द्वारा झाड़ा-फूँका। माँ शिर पर तेल मलने लगीं और पुत्री सोने का नाटक रचकर शान्त होने लगी।

परंतु रमा को सारी रात नींद नहीं आई। वह सोचती रही—मैं उससे बोली क्यों नहीं! मैं कैसी मूर्खा हूँ। ओह वह बेचारा किस प्रकार आर्त्त-सा मेरे पीछे-पीछे मेरे दरवाजे तक आया और मुझे ऐसा पागलपन सवार हुआ कि मैंने उसे देखा तक नहीं? छिः! मेरे क्रोध का कारण तो यही था न कि वह मध्यान्ह की छुट्टी में तटपर क्यों नहीं आया? पूछ लेती, शायद वह किसी जरूरी काम में उलझ गया हो!—मगर—! मगर—!! उसका वह कौन सा ऐसा जरूरी काम था, जो मुझसे भी "आवश्यक" था!—! मगर दुत्त? मैं भी क्या सोचते-सोचते क्या सोचने लग जाती हूँ! होगा कोई ऐसा-वैसा ही जरूरी काम! मैं तो मरी जाती थी नहीं, आज नहीं तो कल मिलती, मगर उसका काम जो बिगड़ जाता! ओहः! वस्तुतः बड़ी भयंकर भूल हुई! करवटें बदलते-बदलते रमा ने रात काटी।

सबेरा हुआ। और कुछ कालोपरान्त स्कूल जाने का समय भी। बालक बड़ा खिन्नचित्त हो स्कूल जा रहा था। वह अब तक मन ही मन रमा के इस विकट कोप का कारण ढूँढ़ रहा था। कुछ दूरी पर आगे उसे रमा पथ में मिली। वह अपने को संभाल न सका। लम्बे डग भरता वह रमा के निकट पहुँच कर आर्त्त, विनीत स्वर में बोला—"रमा! मैंने कौन सा अपराध किया जो तुम मुझपर इस तरह नाराज हो गई!" रमा! फिर भी न बोली। बालक विह्वल हुआ जा रहा था। वह फिर बोला—"न बोलेगी रमा! अच्छा न बोलो—!" अब के रमा ने चिहुँक कर बालक की ओर देखा, उसके राजीव-से लोचनों में दो बड़े-बड़े अश्रुबूँद झूल रहे थे। रमा उसके निकट जा जल्दी-जल्दी बोली—ओह! तुम रोते हो? चुप रहो। राह में यह सब क्या करते हो, चलो तट पर सब बातें होगी।

दो घन्टे काटते, इन प्रेमियों के लिये पहाड़ हो गया। दोनों के कान मध्यान्ह के सावकाश की घन्टी श्रवण के हेतु व्याकुल हो रहे

थे। परन्तु घन्टी ने तो शायद आज न बजने की शपथ ले ली थी। आखिर घंटी बजी और दोनों चिरकाल के बंदी-सा मुक्ति पाकर रेवती की ओर चले। बालुका-कण के कोमल गलीचे पर दोनों बैठे। बालक ने ही पहले पूछा—हाँ, बताओ मेरा अपराध क्या है?

रमा बोली—हाँ, बताऊँगी, परन्तु पहले मेरे एक प्रश्न का उत्तर दे दो।

बालक सहर्ष बोला—कहो।

रमा बालक की हथेली को अपनी हथेलियों से चाँपकर बोली—इस समय हमारे तुम्हारे बीच सिवा उस अन्तर्यामी तथा इस 'रेवती' के कोई नहीं है, सच बताना, तुम मुझे सच्चे दिल से प्यार करते हो?

बालक बड़ी दृढ़ता से अपनी मुट्ठी बाँधकर बोला–रमा! सच कहता हूँ और उस घट-घटवासी की साक्षी देकर कहता हूँ. अगर ऐसा अवसर आवे कि तुम्हारे एक एक रोमावलि की रक्षा के लिये मुझे सौ-सौ प्राणों की पूर्णाहुति देनी पड़े तो मैं सहर्ष, अविलम्ब दे सकता हूँ। जिस दिन से मैंने तुम्हें रेवती से निकाला है, न जाने क्यों, उसी दिन से तुमसे अपना-सा स्नेह हो गया है। तुम हँसोगी, मुझे पागल कहोगी, कभी-कभी तो रात-रात भर तुम्हारे ही विषय में सोचते-सोचते सवेरा कर देता हूँ। मुझे अपने आराम की उतनी चिन्ता नहीं रहती, जितनी तुम्हारी। ईश्वर जाने इस गाढ़ सम्बन्ध का अन्तिम परिणाम क्या होगा?

रमा अब बालक के विशाल हृदय-सागर की गहराई में डूबी। उसकी सहृदयता का भान उसे अब हुआ। वह बालक के दोनों हाथों को चूमती हुई बड़े स्नेहातुर कण्ठ से बोली—बस, अब मेरा हृदय शीतल हो गया। मैं कृतार्थ हुई। मैं यही सुनने को बेचैन हो रही थी।

परन्तु तुमने मेरा वह अपराध न बताया रमा, जिस कारण कल तुम रंज हो गई थी।

"ओह! जाने दो, अब उन बातों में धरा ही क्या है?" उपेक्षापूर्वक रमा बोली।

"नहीं! नहीं!! बताओ, तुम्हें बताना पड़ेगा। मैं अपना अपराध बिना सुने न मानूँगा।"

"अच्छा! कल दोपहर की छुट्टी में तटपर क्यों नहीं आये!"

बस, इसीलिये तुम रञ्ज हो गई थी? हाँ, रञ्ज होने की बात भी थी, क्योंकि तुम मेरी प्रतीक्षा में यहाँ बैठी रही होगी?

"नहीं तो क्या, पूरे चार घन्टे तक तुम्हारी प्रतीक्षा में आँखें फोड़ती रही। १२ बजे की बैठी ४ बजे शाम को उठी। रात में न तो खाई, न नींद ही आई।"

"ओह हो! तब तो सचमुच तुम्हें मेरे कारण बड़ा कष्ट हुआ। बात यह हुई रमा, कि कल दोपहरी की छुट्टी में मास्टर साहब मेरे ही क्लास वालों से "गार्डन" सिंचाई का काम ले रहे थे, और जब तक काम होता रहा, मास्टर साहब बराबर मौजूद थे। मैंने उनसे छुट्टी के लिये प्रार्थना की, परन्तु उन्होंने साफ इनकार कर दिया। क्या करता, विवश हो गया और न आ सका। माफ करो रमा।

बालक के न आने का कारण सुनकर रमा लज्जित हो गई। वह बोली—"अब मुझे ज्यादा लज्जित न करो, क्षमादान दो।"

बालक रमा के जुड़े हाथों को अलग करता हुआ, जरा प्यारभरी झिझक से बोला—मैं तो तुम्हें हाथ जोड़ने और माँफी माँगने को नहीं कहता। तुमने झटपट अपने हाथ क्यों जोड़ दिये? इसमें हम दोनों में से किसी का कुछ अपराध नहीं है। हम दोनों ही भ्रम में रहे। खैर, हटाओ इन सब बातों को! कल बाबू जी कलकत्ते से आए हैं। वहाँ के बाग बाजार की मशहूर मिठाई "रसगुल्ला" लेते

आए थे। तुम्हारे लिये थोड़ा लेता आया हूँ, चक्खो तो इसका स्वाद कैसा है !

मुस्कराती हुई रमा रसगुल्ला लेकर खाने लगी।

बालक ने पूछा—कहो कैसी चीज है ?

"बहुत बढ़िया, बहुत बढ़िया !! एक तो यह आपही मीठा है, दूसरे तुम्हारे हाथों में पड़कर इसकी मिठाई में एक अद्भुत स्वाद आ गया है।" विद्रुम जैसे होठों पर स्नेहभरी हँसी लाकर, बालक को प्रणय-तृप्त नेत्रों से निहारती रमा बोली।

बालक मन ही मन तो प्रसन्न हुआ, परन्तु प्रकटतया बोला—बस, बस, रहने दो। ज्यादा बड़ाई मत करो, तुम्हारी बनाई बिलग्रामी से यह अधिक अच्छी स्वादवाली मिठाई नहीं है।

रमा—जरूर है।

बालक—अच्छा मान गया, हो चुकी बड़ाई।

सहसा, रमा ने एक सुन्दर बेल-बूटे से काढ़ा हुआ रूमाल बालक के हाथों पर धर दिया ? बालक ने देखा, उस सुन्दर रेशमी रूमाल के कोने पर बड़े सुन्दर, सुस्पष्ट फूलदार अक्षरों में लिखा है—"प्रिय रघुबीर को तुच्छ भेंट।" नीचे निवेदक के स्थान पर—अंग्रेजी का 'R' लिखा हुआ है।

बालक जरा अधीरता से बोला—सच कहो, इस सुन्दर रूमाल को किसने बनाया है ?

रमा मृदु हास्य करती हुई बोली—वाह ! अच्छे पूछने वाले आये। जिसने बनाया उसने तुम्हें दिया।

रघुबीर प्रेम-गद्गद गले से बोला—तो आओ, तुम्हारे उन दोनों कलाकार हाथों को चूम लूँ, जिसके सम्मुख बड़े-बड़े कलाकारों की कला फीकी है।

काँपते हाथों से रघुबीर ने रमा के दोनों हाथ उठाकर होठों से चूम लिया। रमा सिहर उठी।

३

रमा और रघुबीर का यह स्नेह-बंधन तो कुछ दिन सुख व शान्तिपूर्वक अवश्य बीता, परन्तु वर्ष लगते लगते, इनकी प्रणय-चर्चा विद्यार्थी तथा विद्यार्थिनी-समाज में जोरों से चलने लगी। यह प्रणय-सूचना मास्टर, मास्टरिनियों के कानों तक ही सीमित न रही, वल्कि इस समाचार को अश्लील भाषा में रमा के पिता, पं० गोबरधन के कानों तक भी पहुँचाई गई। नित्य नई-नई असत्य तथा दूषित सूचनाएँ लोगों में फैलाने का कुछ परनिन्दकोंने ठेका सा ले लिया था। यह वज्र-सदृश कठोर संवाद श्रवण कर पं० गोबरधन के हृदय में ज्वालामुखी फूट निकला। जो पं० गोबरधन ऐसी-ऐसी अफवाहें सुन दूसरे, तीसरे की बहू-बेटियों को गृह—ग्राम निर्वासन की व्यवस्था देते थे और इसके प्रायश्चित्त में उसके घरवालों से काफी पैसे ऐंठते थे, वह भला कब अपनी पुत्री की पुंश्चलता सुनकर बैठ रहते। उनके हृदय में धर्म की भयंकर दीवाल उठ खड़ी हुई, मनमें सामाजिक भयोत्पन्न हुआ, साथ ही जीविका छूटने की भी याद आई, और वे एकदम व्याकुल हो गये। जिस पुत्री को उन्होंने अपना प्राण समझा, आज उसे "आस्तीन का साँप" समझने लगे। जो सुलक्षणा थी, वही कुलक्षना निकली। गोबरधन पण्डित इस प्रकार कौए के पीछे उड़े।

रमा ने स्कूल से आकर ज्योंही घर में पाँव रखा कि पण्डित गोबरधन—जो पहले से ही नाक भौं चढ़ाये, भिचाये बैठे थे—चिल्लाकर बोले—अरे! तूने तो डूबो दिया सारे कुल-गौरव को। कैसी-कैसी आपदायें सहकर, विपत्तियाँ झेलकर मैंने कुल की पगड़ी की लाज रखी, तुम्हें बेटे से बढ़कर प्यार किया; परन्तु तू आज कृतघ्न की भाँति हमारी पगड़ी उछालने पर तुल गई है!" पण्डित जी क्रोध से काँपने लगे!

रमा, पिता के इस अप्रत्याशित महाप्रकोप से काँपती हुई, क्षीण-स्वर में बोली—बाबू जी! मैंने क्या किया है?

पण्डित जी और उग्र स्वर में बोले—यह मुझी से पूछती है, अपने हृदय से पूछ, कि तूने क्या किया?

रमा और नम्र हो गई। अवगुंठित कंठ से बोली—मैं पूछती हूँ अपने हृदय से बाबू जी, मगर मुझे मालूम नहीं होता, मैंने क्या किया?

पण्डित जी गरजकर बोले—तूने कुछ नहीं किया! इतनी सीधी! मेरी ही जन्मी होकर मुझी को ठगने की धूर्त्तता! कुलक्षणा! तूने वही किया, वही कर रही है, जिसे आज तक मेरे कुल में किसी ने नहीं किया!

रमा पुनः उसी स्वर में बोली—तो दयाकर मेरा अपराध बताइये और मुझे दण्ड दीजिए।

पण्डित जी तमक कर बोले—दण्ड! अरे, दण्ड तो तुझे ऐसा दूँगा कि जन्म भर तू झींकेगी अपने भाग्य पर।

रमा—परन्तु, बाबू जी! आपने मेरा अपराध नहीं बताया?

पण्डित जी चिल्लाकर बोले—अपराध! तू अपना अपराध सुनेगी! क्या उसे तू नहीं जानती? अच्छा ले सुन अपना कठोर

अपराध ! रेवती तटपर तू रघुबीर से घन्टों एकान्त में बात करती है। अपना कलेवा उसे खिलाती है और उसका कलेवा आप खाती है। एक दिन तू उसकी प्रतीक्षा में दोपहर से शाम तक तट पर अकेली बैठी रही। तू उसीके रास्ते से जाती आती है और किसी दिन वह नहीं मिलता तो तू बहुत व्यग्र हो जाती है। स्कूल के पिछवाड़े वाले वट-वृक्ष पर एक दिन तू रघुबीर के साथ झूला झूल रही थी और तूने उससे यह भी कहा है कि हम दोनों कहीं अलग जाकर घर बसायें। तुम्हारे सैकड़ों घृणित अपराधों में ये कुछ अपराध हैं। बताओ ये कितने भयंकर, कैसे लज्जास्पद हैं। छिः ! छिः !!

अपने पिता जी के मुखारविन्द से अपने अपराधों की सूची सुनकर रमा सन्न हो गई और जबाब देने के बदले वह फूट-फूट कर रोने लगी। संतान के ऊष्ण अश्रुओं से पिता का कठोर हृदय कुछ पिघला। पंडित जी कुछ नर्मी से बोले—रोना व्यर्थ है, मैं जानता हूँ तेरे विषय में लोगों ने जैसी खबरें उड़ाई हैं, वैसी तू नहीं है। फिर भी हिन्दू-धर्मावलम्बी होने के नाते समाज की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर, पूर्वजों द्वारा स्थापित नियमादेशों पर हमें-तुम्हें चलना होगा। इसमें तेरा क्या बिगड़ेगा यदि तू रघुबीर से न बोले, उसके संग स्कूल न जाया करे और तटपर न बैठा करे।

पिता की नर्मी से रमा को कुछ साहस हुआ। वह आँसू पोंछती हुई बोली—बाबू जी, मैं आपके चरण छूकर सौगन्ध खाती हूँ कि मेरा और रघुबीर का स्नेह रंचमात्र भी पापपूर्ण तथा अनुचित नहीं है। यह बात निरी झूठी है कि मैं उसके साथ झूला झूली या उसके संग कहीं भाग जाने का इरादा किया। रघुबीर से मेरी मित्रता का प्रमुख कारण, उसका मेरा रेवती से प्राणोद्धार करना ही है। रघुबीर एक सदाचारी, परोपकारी तथा साधु स्वभाव का बालक है और कई बार अच्छी चलन के लिये स्कूल से वह पुरस्कार भी प्राप्त कर

चुका है। परन्तु मैं उन लोगों को क्या कहूँ जिनका कूटलूट किसी की निन्दा करना ही व्यापार है।

पण्डित जी थोड़ा और नम्र हो मीठे स्वरों में बोले—मैं भी जानता हूँ रघुबीर अच्छे स्वभाव का लड़का है। उस दिन जो उसने अपनी जान जोखिम में डालकर तेरी जान बचायी, उसके इस उपकार का आभारी मैं भी हूँ। किन्तु बेटी रमा! अब तू मूर्ख नहीं, ज्ञानवान् है। मुझे तुझ जैसी सुशीला पुत्री पर अगाध श्रद्धा है, पर बेटी! यदि तेरे और उसके मिलन से समाज के कान खड़े होते हैं, तेरी और उसकी मित्रता से लोगों में बदनामी फैलती है, तो फिर व्यर्थ बदनाम होने, वंश की मर्यादा खोने से क्या लाभ? सोचो, बेटा! सभी भले आदमियों का कर्त्तव्य है कि वह ऐसा कार्य कदापि न करे, जिससे उसपर लोगों को अंगुली उठाने का अवसर मिले।

रमा ने चुपचाप सब सुन लिया। वह इसका उत्तर तो बड़ा सुन्दर और युक्ति-युक्त देती, परन्तु आर्य कन्या अपने जन्मदाता का विरोध न कर सकी। उसने उनकी आज्ञाओं को निर्विरोध शिरोधार्य किया।

रघुबीर से रमा की भेंट सप्ताहों तक न हुई तो वह कुछ घबराया। "रमा आज-कल पढ़ने क्यों नहीं आती। बीमार तो नहीं हो गयी? या उसके पिता ने, उसे यौवन के करार पर पहुँचा देख, स्कूल भेजना बन्द तो नहीं कर दिया! रमा ने मेरे निकट कोई सूचना अबतक क्यों नहीं भेजी?" आदि-आदि बातें रेवती के शून्य तटपर म्लान मुख बैठा-बैठा रघुबीर सोच रहा था कि सहसा उसे रमा की सखी बेला की आवाज सुन पड़ी। वह चौंक उठा और बड़ी उत्सुकता से बोला—क्यों बेला! तुम्हारी सखी नहीं आई?

'लो यह पत्र रमा ने दिया है, पढ़ने से वास्तविक स्थिति का पता लग जायगा।'

पत्र देकर बेला लम्बे-लम्बे पाँव बढ़ाती हुई चली गई। अधीर रघुबीर को उधर देखने तक का अवकाश न था। वह झट लिफाफा फाड़कर पत्र पढ़ने लगाः—

प्रियवर रघुबीर!

जिस रेवती की विकराल लहरों से तुमने अपने जीवन का ममत्व त्यागकर मेरा उद्धार किया था, उसी रेवती-तटपर अभी दो सप्ताह भी न बीते, हम दोनों ने प्रीति-निर्वाह की प्रतिज्ञा की थी। आह—! वह दिन हमारे लिये कितना सुन्दर, कितना सुखद था! परन्तु रघुबीर! वह दिन, वह समय हमारे लिये परम अमंगलमय, किसी अज्ञात अशुभ घड़ी का निर्देश था! मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो वह दिन फिर कभी न आयेगा?" इसका समर्थन केवल मेरा हृदय ही नहीं, वरन् दिशाएँ तक कर रही हैं।

रघुबीर! हमने क्या क्या सोच रक्खा था! कैसी-कैसी आकाँक्षाएँ हमारे हृदय-समुद्र में हिलोरें मार रही थीं, परन्तु भावी हमारे "जीवन यापन का प्रोग्राम" कुछ और ही प्रकार का प्रस्तुत कर रही है। जिस अनवरुद्ध प्रेम-प्रवाह में हम बहे जा रहे थे, घातक नियति से मेरा वह सुख देखा नहीं गया। उस कठोर-हृदया ने हमारे उस प्रवाह की गति-अवरोध के हेतु धर्म और समाज की भित्ति खड़ी कर दी है। मैं बार-बार इस प्रवाह में प्रवाहित होकर भी इस कठोर भीत्ति से टकरा-टकरा कर लौट जाती हूँ। मेरे रघुबीर! हमारे तुम्हारे पवित्र-प्रेम की सूचना जिस अश्लील, मनुष्यत्व-हीन भाषा और भावों में मेरे पिता जी को दी गई है, उसे मैं लिखकर तुम्हारे नर्म मर्म पर आघात पहुँचाना उचित नहीं समझती। समाज की नीचता अकथनीय है, इनका कलुषित-हृदय इतना संकीर्ण और संदिग्ध हो गया है कि इन्हें किसी के विशुद्ध बन्धुत्व में भी पाप ही पाप दिखाई पड़ने लगता है। पिताजी इन खल-निन्दकों की असत्य

सूचना को सच्ची समझकर मुझपर बड़े क्रुद्ध हुए और तुमसे न बोलने की उन्होंने मुझे आज्ञा दी है। अब इसमें मेरा क्या धर्म है, तुम्हीं सोचो! एक आर्य-कुल कन्या अपने जनक, पालक की अवज्ञा किस प्रकार कर सकती है? पिता जी ने मुझे स्कूल जाने से मना नहीं किया है, तथापि मेरा जाने का विचार नहीं है क्योंकि मैं अपने हृदय की दुर्बलताओं को जानती हूँ। स्कूल जाने पर तुमसे मार्ग में या तटपर अवश्य भेंट होगी और मुझसे बिना बोले न रहा जायगा, पिता की आज्ञा भंग होगी, हमारे शत्रुओं की बन आयेगी और हमारे अपवादों की जड़ें मजबूत होंगी।

आशा है मेरी इस विवशता पर तुम मुझे क्षमा करोगे। मैं तो समाज की एक बंदिनी-स्त्री हूँ—समाज शासिता हूँ। हाँ, मुझे अपनी एक अकिञ्चन जानकर मेरी याद रखना, मुझे भूल मत जाना! कृपा रखना।

तुम्हारी चिर-संगिनी

अभागी रमा।

पत्र पढ़कर कोमल-हृदय रघुबीर काँप उठा। उसके मर्मस्थल पर एक गहरी चोट लगी और उसके अन्तर्हृदय से वेदना की जो आह निकली वह रेवती के उस विस्तृत तट भूमि में विलीन हो गई। सूर्य आरक्त मुख किये पश्चिम की ओर भाग रहा था और रघुबीर अपने घर की ओर।

४

पं० गोबरधन की जाति में एक बड़े ही प्रसिद्ध एवम् धनाढ्य व्यक्ति थे, जिनकी धाक् अपने जातिवालों के अतिरिक्त अपने ग्राम-

वासियों पर भी खूब थी। नाम था श्रीराम चौबे। चौबे जी बूढ़े थे। यों तो आप बड़े पक्के विचार के और सत्पुरुष थे, परन्तु उनका पुत्र सुखराम ठीक उनके विपरीत उद्दंड, गुण्डा और आवारा था। चौबे जी का यही एकमात्र पुत्र था। सम्पत्ति अपार, किन्तु पुत्र अशिक्षित था। कारण था प्यार की सीमा का उल्लंघन। पिता ने चाहा था, पुत्र को पढ़ा लिखा कर योग्य बनाऊँ, पर खेलाड़ी पुत्र की पीठ पर छड़ियों के दाग देखकर चौबाइन का कलेजा मुँह को आ जाता—बापरे! गुरू है या कस्साई! मेरे लाल की इस हत्यारे ने चमड़ी उधेड़ ली! चौबेजी ने समझाया—गुरू पृथ्वी का देवता है, उसकी ताड़ना इश्वरीय-प्रसाद है, अमृत-फल है, आदि-आदि! परन्तु चौबे जी का सारा उपदेश, चौबाइन जी ने अपनी "नाहीं" की छुरी से कद्दू की तरह काट डाला और अंततः सुखराम एक महागुण्डा होकर ही रहा। इसके पापचारों से गाँव की बहू-बेटियों की प्रतिष्ठा की रक्षा करना दूभर हो गया। रोज ही आठ दस घरों से चौबे जी की सेवा में सुखराम के अत्याचारों के उलहने आते और चौबेजी सिर धुनकर रह जाते। परन्तु अपने एकमात्र पुत्र को चौबेजी निकाल दें तो फिर उनकी मृत्यु के बाद उनका अग्नि-संस्कार कौन करेगा? यही एक विचार उन्हें चिन्तित कर देता।

पापात्मा सुखराम की आँखों में अभागी रमा भी आ गड़ी। इस अधम को अपने सगोत्र कन्या तक का भी ध्यान न रहा। पंडित तथा चौबे-परिवार में काफी घनिष्ठता थी। फलतः सुखराम का आवागमन पंडित जी के घर अधिक होने लगा। इधर वह उदार भी खूब हो गया। कभी अपने घर से चावल लाता, कभी पंडितानी के लिये धोती ला देता और कभी अपने मित्र "टहला" को चवन्नी, अठन्नी 'गाँजा-तमाखू' के लिये थमा देता। पंडितानी भोली थीं और टहला मूर्ख! वह केवल गाँजे का दम लगाना ही जानता था, और

अपने गुलाबी नशे की झोंक में सुखराम की उल्टी-सीधी बातों में—"हाँ, भाई, ठीक है!" कह देता। परन्तु अब रमा न भोली थी और न रेवती तटपर खेलने वाली नादान बालिका। अब वह सयानी हो चली थी। उसका रूप निखर आया था और बाल-सुलभ सारी चपलताओं का स्थान यौवन के गाम्भीर्य, शिष्ठता और सुशीलता ने ले लिया था। वह भली तरह भाँप रही थी, सुखराम यहाँ इन दिनों क्यों अधिक बैठा-उठा करता है? मेरे माता और भाई की क्यों इतनी खुशामद करता है? सुखराम उसे घेर-घेर कर उससे बोलना चाहता था, परन्तु सावधान रमा ने कभी उस दुष्ट की ओर देखा तक नहीं। सुखराम, रमा की इन चेष्टाओं से कट मरता था।

चन्द्र ग्रहण का दिन था। दुष्ट सुखराम, रमा के घर आया और उसकी माँ से बोला—चाची! आज ग्रहण-स्नान करने रेवती न चलोगी, ८ बजे ग्रहण लगेगा। माँ ने कहा है कि चाची से कहना जरूर चलें। धर्म-पुण्य के मामले में पंडितानी किसी से पीछे पग रखने वाली न थीं, सहर्ष बोलीं—हाँ, बबुआ चलूँगी। बहन जी से कह देना।

रेवती तटपर काफी धर्म-मूर्तियों का जमावड़ा लग चुका था। तिल धरने तक का स्थान न था, धर्म की इस लूट-पाट में कोई पीछे रहना नहीं चाहता। सबों की यही चेष्टा रहती, सर्व प्रथम मैं ही स्नान करूँ। स्नान आरंभ हो गया और धर्म-मूर्तियाँ दनादन रेवती में कूदने लगीं। पंडितानी अपनी पुत्री का हाथ पकड़े अभी आगे बढ़ी ही थीं कि सहसा एक बड़ा धक्का आया और पंडितानी के हाथ से रमा छूट गई! रमा! "माँ! माँ!!" चिल्ला उठी। पर उसकी चिल्लाहट उस अपार जन-कोलाहलमय जन-समुद्र में कानों तक न पहुँची। ग्रहण सर्वग्रास था। चाँदनी की जगह घोर अन्धकार फैल गया! सुखराम तथा उसके दुष्ट साथी इसी अवसर की घात में थे, वे झट्

रमा को ले भागे। पुण्यार्जन करने गई हुई रमा सतीत्व-संहारकों के पल्ले पड़ी! होम करते हाथ जला! हायरे समाज के श्वान!

रमा को लेकर वे दुष्ट रेवती के एक घोर निर्जन भाग में पहुँचे और उसका मुख-खोल कर कंधे से उतारा। रमा को अब अपनी अवस्था ताड़ते देर न लगी। व्याकुलता त्यागकर उसने साहस संग्रह किया। वह शान्त-चित्त से खड़ी हो गई! सुखराम उसे लक्ष्यकर बोला—मुझसे बड़ा कन्नी काटती थीं, क्यों, अब कहो।

"पर अब तुम मेरा कर ही क्या लोगे? धिक्कार है तुम्हें, जो अपने मित्र की भगिनी, अपने गोत्र की एक अविवाहिता कन्या की लाज लूटने के लिये ऐसा कमीनापन करने पर उतारू हुए हो। याद रखो, इसका कुपरिणाम तुम्हें बुरी तरह भोगना पड़ेगा।" क्रुद्ध शेरनी की भाँति रमा बोली।

"तेरे वंश में ऐसा कौन बहादुर है, जो मुझसे बदला लेगा! मूर्ख टहला या मेरे पिता की कृपा पर जीने वाले दरिद्र गोबरधन मुझसे बदला लेंगे। हो-हो-हो—!!! तब तो पानी में आग लग जायेगी!" विकट हास्य करता हुआ सुखराम बोला।

सुखराम का एक दूसरा पतित साथी बोला—नहीं, यह रघुबिरवा के घमंड में फूली है। रमा उसे फटकारती हुई बोली—पतित श्वान! तेरे जैसा नारकी उस स्वर्ग के देवता का नाम लेने का अधिकारी भी नहीं।

सुखराम व्यंगपूर्वक बोला—हाँ, हाँ, वह देवता है, हम राक्षस हैं—क्यों?

रमा सदृढ़ बोली—अवश्य।

तीसरा दुष्ट बोला—अरी कैसी पगली है, इस समय रघुबीर के नामों की माला जपना छोड़, भला चाहती है तो हमलोग जो कहें उसे स्वीकार कर, नहीं तो...।

रमा उत्तेजित हो गई—हाँ, हाँ, बोलो-बोलो, नहीं तो...तुम्हारा कंठ अवरुद्ध क्यों हो गया? मेरे संग बलात्कार करोगे? नराधमों यही चाहते हो न! अपने इस मिथ्या-भ्रम को भूल जाओ! जब तक रमा के शरीर में रक्त की एक भी बूँद रहेगी, तब तक तुम्हारी क्या तुम्हारे बाप तक की इतनी हिम्मत नहीं जो मेरा बाल तक स्पर्श कर सके।

सुखराम उपेक्षापूर्वक उपहास से बोला—हूँ! ऐसा—?

रमा सतेज स्वर में बोली—हाँ, हाँ, ऐसा ही। अब तक रुपयों पर लाज बेचने वाली असती अथवा भीरु-हृदया अबलाओं के ही संग तूने मनमाना अत्याचार किया। सातियों से पाला तुझे कभी नहीं पड़ा है। आज तू देखेगा सती की शक्ति क्या है?

सुखराम पुनः उदासपूर्ण स्वर में बोला—अच्छा! छत्तीस घाट का पानी पीकर भी तुम अपने को सतियों की ही भतीजी समझती हो?

रमा अब और क्रोधोन्मत्त हो बोली—सुखराम! जिह्वा पर लगाम दो, इस तरह बढ़कर न बोलो। मैं कुलटा नहीं हूँ!

अब सुखराम के क्रोध में उबाल आ गया। वह कड़क कर बोला—कुलटा नहीं तो और क्या है? सतीत्व के नाम पर हठवश अधिकार जमाने चली है। ठहर मैं तेरे सतीत्व की परीक्षा क्षणभर में कर लेता हूँ, और इस तहर बेलगाम हो गालियाँ बकने का मज़ा भी चखाता हूँ।

फिर वह अपने साथियों को इङ्गित कर बोला—ऐ गनेशू, पकड़ तो इसे, यह बड़ा सतपन छाँटती है? शेर की माँद में घुसकर शेखी बघारती है!

गनेशू ज्योंही उठा कि रमा तीव्र स्वर से डपटकर बोली—सावधान! कुशल चाहते हो तो एक पग भी आगे न बढ़ाना, नहीं तो सर पृथ्वी पर लोटता नज़र आयेगा।

रमा के हाथों में कटार चमक रही थी। पापी प्राण भय से काँप उठा। उसके पैर पृथ्वी में चिपक गये। गनेशू को जड़वत् खड़ा देख सुखराम बोला—क्यों गनेशू! रुके क्यों?

गनेशू जरा झुँझलाकर बोला—अन्धे हो, देखते नहीं, इसके हाथों में तीक्ष्ण कटार को।

सुखराम इस बार स्वयं उठा और रमा की ओर बढ़ता हुआ बोला—ठहर, तेरी सारी बँदर-घुड़की एक थप्पड़ में ठिकाने लगा देता हूँ। क्या तूने सबको गनेशू की तरह हिजड़ा ही समझ लिया है, जो छोटी-सी कटार दिखाकर बच निकलने का उपक्रम कर रही है।

रमा सतेज स्वर में बोली—चुप पापी! हिजड़ों में भी हिम्मत होती है, तभी तो वे मुगल-सम्राटों के महल में रक्षक के स्थान पर नियुक्त होते थे। पर तेरे जैसे पतितों में साहस कहाँ से आया? आ, देख मेरे सतीत्व की मर्यादा रखने वाली इस छोटी-सी कटार की करामात! याद रख, या तो यह तेरी बलि लेगी या मेरा हृदय!

सुखराम दुस्साहसी था। वह कितनी ही साहसी औरतों के सङ्ग अत्याचार कर चुका था, पर रमा के शौर्य्य के सम्मुख, उसे अपना साहस धोखा देता हुआ दीख पड़ा। रमा उसे साक्षात कालवत प्रतीत हुई। सुखराम ने एक चाल खेली। वह रमा को बातों में उलझाये रहा और अपने एक साथी को सङ्केत द्वारा कुछ बता दिया, जिसे रमा न देख सकी। वह एक टक सुखराम के आक्रमण की प्रतीक्षा कर रही थी। सुखराम के उस दुष्ट साथी ने पीछे से रमा के हाथ पर तानकर एक डण्डा इस ज़ोर से मारा कि रमा का हाथ झन्ना उठा। कटार छूटकर दूर जा गिरी और रमा "हे भगवान! अब मेरी लाज तुम्हारे हाथ है" कहती, पृथ्वी पर गिर पड़ी। सुखराम तथा उसके साथी ज्यों रमा पर झुके कि "धड़ाम्! धुड़ुम्!!" की ध्वनि से रेवती का वह निर्जन प्रान्त गूँज उठा और 'सच-सच' करती

हुई कोई चीज सुखराम के कानों की बगल से निकल गई। इस आकस्मिक घटना से पापियों के होश उड़ गये। वे प्राण लेकर भागे।

इधर रेवती के उस शून्य स्थल में एकाकी बैठी रमा सोच रही थी—निमेष मात्र में यह क्या हो गया? धाँय! धाँय!! की ध्वनि कहाँ से हुई? वह रोमाञ्चित हो उठी और विह्वल कंठ से रोती हुई करबद्ध बोली—"हे मेरे रक्षक देवता! तुम कौन हो? कृपया मुझे दर्शन दे कृतार्थ करो। यदि तुम सचमुच भगवान हो तो आओ, आज तुम्हें अबलाओं पर आए दिन होने वाले अत्याचार की करुण-कहानी सुनाकर रोऊँ और रुलाऊँ और यदि तुम मनुष्य हो तो तुम्हारे चरण चूमकर कृतार्थ होऊँ।

रमा बोल ही रही थी कि उसे समीप ही किसी की पद्ध्वनि सुन पड़ी। उसका हृदय गद्गद हो गया और बोली—क्या आपही ने मुझे इन दुष्टों के पाप-पाश से मुक्त किया है?

आगन्तुक—मुक्त तो ईश्वर ने किया है। हाँ, मैं उसका कारण-मात्र अवश्य हूँ। अतः तुम्हें ईश्वर को ही धन्यवाद देना उचित है।

रमा साग्रह बोली—धन्यवाद! क्या मैं आपका शुभ नाम सुन सकती हूँ।

आगन्तुक—नाम—! नाम भी जानना चाहती हो, अच्छा—!

"टार्च" के विमल प्रकाश में युवक का मुख-मंडल चमक उठा। अब रमा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा! लज्जा, सङ्कोच और हर्ष की त्रिवेणी उसके हृदय में बह चली। बड़े कष्ट से वह रुकते-रुकते इतना बोल पाई—"तु-तु-म, र-र-रघु-बी-बी बीर—!"

रघुबीर बोला—हाँ, रमा, मैं वही रेवती तट पर तुम्हारे संग खेलने वाला रघुबीर हूँ! ६, ७ वर्ष की लम्बी अवधि के पश्चात् आज तुमसे साक्षात् हो पाया है। प्रथम साक्षात् भी तुम्हारे कष्ट के अवसर

पर हुआ था और दूसरा भी उसी अवस्था में। ऐसा अशुभ है मेरा साक्षात्!

रमा चुप निर्द्वन्द खड़ी रही। उसके हृदय-प्रदेश में पूर्व-स्मृतियाँ एक के बाद एक कर उमड़ रही थीं। उसके हृदय को जैसे कोई बड़ी निर्दयता-पूर्वक मसल रहा था। रघुबीर को रमा की विवशता समझते देर न लगी। वह मृदु शब्दों में बोला—रमा! मैं समझ रहा हूँ, मुझे देखकर तुम्हें मन ही मन बड़ा कष्ट होता होगा। पुरानी बातों की याद तुम्हें दुखी कर रही होगी। तुमने मुझसे अकारण मिलना बन्द कर दिया था और मैं दो-दो बार तुम्हारे असहायावस्था में काम आया, इसे सोचकर तुम मन ही मन लज्जित और संकुचित भी हो रही होगी; परन्तु रमा! यदि वास्तव में तुम यह सोच-सोच कर क्षुब्ध या लज्जित हो रही हो तो यह तुम्हारी बहुत बड़ी भूल होगी! पवित्र प्रेम में वासना का रोग नहीं घुस पाता। प्रेमी-युगल अपने-अपने प्रेमी की मूर्ति अपने मानस-मन्दिर में भगवद्भक्तों-सा छिपाये, अपनी विशुद्ध तथा निष्काम-भक्ति की श्रद्धाञ्जलि से अपनी प्रेम-मूर्ति को तृप्त किया करते हैं। शेष रही, तुम्हारे न मिलने की बात और मेरा उपकार, तो हम दोनों आपस में न मिलकर सामाजिक तथा कौटुम्बिक आज्ञा-पालन में काफी "पास-मार्क" लाने की चेष्टा कर रहे हैं। और उपकार! उपकार करना तो जीवमात्र का धर्म है। यदि मैंने तुम्हारा कुछ उपकार किया है तो, अपने मानव धर्म का पालन किया है, इस हेतु तुम्हें आभारी बनने की आवश्यकता नहीं!

"ओह! कैसा उदार हृदय है! कितना उन्नत विचार है!" रमा कृतकृत्य हो मन ही मन सोच रही थी—"सज्जनों और दुर्जनों में इतना बड़ा आकाश-पाताल-सा अन्तर! अभी-अभी जो मेरे धर्म लूटने के कुत्सित-कर्म में लगे थे, क्या ये राक्षस मानवाकार नहीं थे। अवश्य थे, परन्तु ये पामर मनुष्य होकर भी मनुष्य नहीं थे, यह भी

अटल सत्य है। हाँ मेरे रघुबीर में मनुष्यत्व अवश्य है!" रमा का हृदय रघुबीर के चरणों पर झुका जा रहा था। वह अपने हृदय की यह अगाध भक्ति अपने हृदय में ही छिपाए मौन थी। रघुबीर समझ रहा था, रमा बड़ी भावुक है और भावनाओं के ही प्रबल उत्थान-पतनों ने इसका मुख बन्द कर दिया है। अतः उसीने फिर शान्ति भंग करते हुए कहा—"चलो, अब घर चलें। तुम्हारे पिता-माता घबड़ा रहे होंगे। लोगों में तरह-तरह की बातें होती होंगी। क्या ठिकाना फिर कोई नया उपद्रव खड़ा हो जावे!"

रमा के जी में तो आया कि साफ कह दे, अब मुझे किसी उपद्रव की कोई आशङ्का नहीं। पर वह "आर्य-कन्या" थी, मन की मन ही में दबाकर रघुबीर के पीछे-पीछे चल पड़ी। चलती-चलती वह घाट पर आई। जहाँ लोगों की भारी भीड़ से शरीर छिला जा रहा था, वहाँ अब माई का एक पूत भी न था। पंडितानी भी रो-पीट कर घर जा चुकी थीं। निर्जन घाट को देख रमा का हृदय और भी निराश और विरक्त हो गया! उसे आशा थी, मेरी स्नेहमयी जननी मेरे लिये अब तक तटपर बैठी बिलखती होगी। परन्तु हा—! अभागिनी की आशा, अकिञ्चन की आकांक्षा के तुल्य, शून्य वातावरण में अट्टहास करती हुई विलीन हो गई।

५

रमा की माँ रो-रोकर रमा के खो जाने की करुण-कथा कह रही थी। पण्डित जी मचिआ पर बैठे-बैठे स्पन्दित-हृदय से सुन रहे थे। टहला निकट ही टाट पर बैठा गाँजे के नशे में झूम रहा था और नराधम सुखराम टहला के निकट ही बैठा, कभी पण्डित और पण्डि-

तानी को देखता और कभी भीत, संत्रस्त नेत्रों से पथ की ओर। इसी समय रमा आ पहुँची। कोई १०-११ बजे की रात होगी। 'हाय! बेटी कहाँ थी' कह पण्डितानी पुत्री को छाती से लगा रोने लगीं। परन्तु रमा की दृष्टि ज्योंही पापी सुखराम पर पड़ी कि वह पदताड़िता सर्पिणी की भाँति आवेषपूर्ण स्वर में बोली—यह मुझसे पूछती हो! अपने इस पापी हितकारी, ब्राह्मण कुल-कलंक सुखराम से नहीं पूछती? क्या इस नारकी ने तुम्हें नहीं बताया कि मैं कहाँ थी? पिता जी! मैं आपके चरणों की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि यदि आपके घर में इस नीच का आवागमन बना रहा तो मुझे आप किसी दिन मृत अवस्था में देखेंगे। इस पापात्मा ने मुझे अकेले में ले जाकर डराया, धमकाया और मेरे हाथों पर लट्ठ-प्रहार कर, मेरी इज्जत लूटनी चाही थी। परन्तु भगवान ने मेरी रक्षा के लिये रघुबीर को देवदूत बनाकर भेजा। उसने गोलियाँ चलाकर इन दुष्टों को भगाया। इतना कहते-कहते वह विह्वल हो बिलख-बिलख रोने लगी।

पुत्री का इतना उग्र और साथ ही इतना करुणार्त्त रूप पण्डित जी ने कभी नहीं देखा था। वे बार बार घबड़ाकर कभी अपनी पुत्री की ओर तो कभी पतित सुखराम की ओर देख रहे थे। वह भींगी बिल्ली बना बैठा था। उससे न तो भाग खड़े होते बनता था, न बैठते। पण्डित जी ने एक तीव्र दृष्टि सुखराम पर डाली। सुखराम की मुखाकृति विवर्ण हो गयी। क्षणमात्र में पण्डित जी परिस्थित को ताड़ गये और सुखराम की ओर आग्नेय नेत्रों से देखते हुए रुक्ष, कर्कश-स्वर से बोले—सुखराम! तेरी मुखाकृति से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि रमा जो कह गई वह अक्षरशः सत्य है। तुम्हारी ही दुष्टता के कारण मेरी लड़की अब तक गुम रही और अपने जानते तूने मेरी पुत्री की प्रतिष्ठा लूटने में कोई कोर-कसर नहीं रखी। परन्तु मूर्ख, अभागे! सतियों के सामर्थ्य का तुझे पता नहीं। जा, आज मैं तुझे

चौबे जी की चिरकालीन मित्रता के कारण छोड़ देता हूँ, नहीं तो आज मेरे हाथों से कोई अनिष्ट कार्य अवश्य हो जाता। जा, भाग जा! अब कभी यहाँ आया तो तेरे सिर के बाल नोच लूँगा। पण्डित जी ने टहला को भी उसके साथ न रहने के लिये चेतावनी दी और पण्डितानी को, सुखराम को घर न आने देने के लिये संकेत किया। पुत्री की प्रसंशा की और उसे ढाढ़स दिया।

सुखराम वहाँ से तीर की तरह भागा। वह गोवरधन जैसे कृपाभिक्षुक की धृष्ठता पर दग्ध हुआ जा रहा था। वह गोवर-धन-परिवार को विध्वंस करने का 'प्रोग्राम' मन-ही-मन बनाता घर की ओर चला। वह जानता था, किस अदालत में फरियाद करने पर बिना गवाही-शहादत व सबूत के फैसला उसके पक्ष में होगा। वह सीधे अपनी माता जी के निकट पहुँचा। पुत्र का उतरा हुआ मुख देख, चौबइन घबड़ाकर बोलीं—"क्यों बेटा! क्या हुआ? इतना उदास क्यों है?

सुखराम समझ गया, मेरा जादू असर कर गया। वह अश्रुपूर्ण नेत्रों से बोला—माँ! आज मैं तुमसे अन्तिम विदा लेने आया हूँ। अब मैं तुम्हारा घर ही नहीं, ग्राम भी छोड़ दूँगा। किसी दूसरी जगह मिहनत-मजदूरी कर किसी प्रकार पेट पालूँगा।

चौबाइन पर मानों बिना मेघ के बज्रपात हुआ। बेटे की आँखों से टपकने वाले कृत्रिम आसुओं ने उनके हृदय पर चिनगारियों का काम किया। वह व्यग्र आहों से पुत्र का अश्रु-विमोचन करती हुई बोलीं—क्यों! क्या हुआ। किसको इतना साहस हुआ कि मेरे लाल को आँख दिखावे। बता, मैं उसकी आँखे निकाल लूँगी।

सुखराम अपने कल्याण के हेतु माता की भीष्म-प्रतिज्ञा पर मन-ही-मन परम प्रसन्न हुआ। उसे खूब मालूम था, पिताजी माता की चुटकियों पर ताल तोड़ने वाले पुतले हैं। जहाँ माताजी ने एकबार

गर्जन कर, रोकर और करुण होकर कहा—"आग लगे तुम्हारे घर में, चण्डी लूट ले तुम्हारी गिरस्ती को, मैं चली अपने बाप के घर" कि बस, पिताजी उफ तक न करेंगे। उनकी सारी न्याय-निष्ठा, सद्वृत्ति और विवेक माँ की कनिष्ठा पर निर्भर है। सुखराम रोता-रोता बोला—आज जो ग्रहण के समय रमा गायब हो गई थी न—

"हाँ, हाँ, तो क्या हुआ बेटा। मिली रमा।" चौबाइन बीच ही में बोल उठीं—"आह! बेचारी पण्डितानी की रुलाई से पृथ्वी गीली हुई जा रही होगी।"

सुखराम झुँझलाता-सा बोला—अरे, सुनो भी अपनी बेचारी की करतूत। रमा कुछ देर हुई कि रघुबीर के संग आई। आप हम लोगों को घपले में डाल, अपने लड़कपन के साथी रघुबीर से मिलने चली गई और जब अपने घर आई और मुझे वहाँ बैठा देखा, तो उसने त्रियाचरित्र पसारा। रो-रोकर बाप से कहा—"सुखराम ही मेरे संग बलात्कार के विचार से मुझे ले गया था। रघुबीर ने मुझे बचाया।" बस, इतनी ही सी बात पर गोबरधन ने मुझे सैकड़ों गालियाँ दीं। रमा और टहला मुझे मारने दौड़े। पण्डितानी ने पेट भर श्रापा। यह कहो कि मैं भागा, नहीं तो आज इन हत्यारों ने मेरा अन्त ही कर दिया होता। माँ! इस बड़ा अपमान के सहन से तो मेरा मर जाना ही अच्छा है। अब इस गाँव में मेरा मुँह दिखाना तबतक संभव है माँ, जबतक इस गाँव के दस छोटे-बड़े लोग इकट्ठे होकर विचार न करें, कि अपराध किसका है? अगर मैं अपराधी प्रमाणित होऊँ तो मैं ग्राम, गृह छोड़ने पर तैयार हूँ नहीं तो गोबरधन की बेटी छोड़ दे।

चौबाइन खिजलाकर बोलीं—हाँ, हाँ, ठीक है, यही होगा। तू चुप रह। गोवरधन की इतनी मजाल जो मेरे लड़के पर वीभत्स

अपराध लगाकर मारने दौड़े। सारा गाँव जानता है उनकी लड़की जन्म की आवारिन है। जरा बाबूजी को घर आने तो दे, गोबरधन का दिमाग उन्हीं की शह पाकर इतना ऊँचा चढ़ गया है।

चौबे जी भोजन करने घर में आए और चौबाइन जी रो रो कर गोबरधन परिवार के अत्याचार और अपने सपूत की निर्दोषिता कह गईं। अन्त में यह भी कहा "यदि कल पञ्चायत न बैठेगी और उसमें गोबरधन को उचित दण्ड न दिया जाएगा, तो हम माँ-बेटे सदा के लिये तुम्हारा घर छोड़कर चले जायेंगे।'

चौबे जी नम्रतापूर्वक बोले—जाने दो, इस तूल-तवालत को, चाहे जैसे भी हो गोबरधन अपने ही कुल-गोत्र के हैं। उनकी निन्दा, अपनी निन्दा है। अब पंचायत में उसे रखना ठीक नहीं। हाँ, मैं गोबरधन और टहला को बुलाकर भली भाँति डाँट देता हूँ।

"नहीं नहीं, यह सब न होगा, कैसा कुल और कैसा गोत्र! इन हत्यारों ने मेरे निर्दोष बच्चे को मारा, अपमानित किया, यह मुझसे सहन न होगा। तुम चाटो अपना कुल-गोत्र, मैं चली।" चोबाइन उसी क्षण उठकर जाने को तैयार होने लगीं।

पत्नी-दास चौबे को विवश हो 'अच्छा' कहना ही पड़ा। दूसरे दिन चौबे जी के द्वार पर पंचायत बैठी। गोबरधन पण्डित की पुकार हुई। उस बिचारे अकिञ्चन ब्राह्मण को स्वप्न में भी यह आशा न थी कि बात का बतङ्गड़ हो जायगा। वह समझ गये कि निर्णय वही होगा जो चोबे जी चाहेंगे। चोबे जी वही चाहेंगे, जो चौबाइन जी की इच्छा होगी और चौबाइन जी एक ही पुत्र-वत्सला महिला-रत्न हैं। सुखराम हमपर असन्तुष्ट है ही, अतः स्पष्ट है पंचायत हमारे विरुद्ध अपना अभिमत देगी।

और गोबरधन पाँड़े का अनुमान गलत नहीं निकला। उनके पुश्तैनी शत्रु निर्णायक बने। रमा, रघुबीर, सुखराम सब की गवा-

हियाँ, सब का बयान लिया गया, परन्तु फिर भी इन पतित चाटुकार पञ्चों की दृष्टि में रमा अपराधिनी और पापी सुखराम निरपराध ही प्रमाणित हुआ। "रमा को घर से निकाल दो, नहीं तो हम तुम्हारा बहिष्कार करेंगे।" पंचायत अपना यही अन्तिम निर्णय देकर उठ गई।

६

पण्डित गोबरधन अब जाति और समाज-बहिष्कृत थे, क्योंकि उन्होंने पञ्चायत का निर्णय स्वीकार नहीं किया, अपनी पुत्री को निर्वासित नहीं किया। अब वे ब्राह्मण-कूपों पर जल भरने के अधिकारी नहीं रहे और न ब्रह्म-भोजन में सम्मिलत होने के योग्य ही। वे अखाद्य सामाग्री की नाईं, महामारी प्लेग की भाँति एक तरफ—एकदम दूर-दूर रखे जाते हैं। जातिवाले तो उन्हें उल्टी नजरों भी नहीं हेरते। उनके शत्रु तो जब-जब देखते हैं, छाती ऊँची कर, अभिमान से मूँछे मरोड़ते हैं। पंडित गोबरधन इन सब दृश्यों को देखते, समझते हैं और ऐसी विषम परिस्थित में रहने वाले अभागों को जो दुखद यंत्रणा, पीड़ा होती है, इन्हें भी होती है। यजमानों ने भी इन्हें त्याग दिया, क्योंकि ब्राह्मणों ने उनसे कह दिया था कि यदि गोबरधन को अपने किसी भले या बुरे कर्म में सम्मिलित करोगे तो हम तुम्हारे द्वार पर थूकने न आयँगे। बेचारे यजमान, पंडित गोबरधन से सहानुभूति रहते हुए भी विवश थे। एक गोबरघन पाँड़े के लिये वे गाँव भर के ब्राह्मणों का परित्याग कैसे करते! इस बहिष्कार की अग्नि में पण्डित-परिवार प्रतिदिन दग्ध होने लगा। जीवन दुखद और

भयावह होता गया। जाति-अपमान की असहनीय ज्वाला से तो वे विदग्ध हो ही रहे थे, अब क्षुधा-ज्वाला से भी संतप्त होने के दिन आये। आय रुकी, व्यय ज्यों का त्यों रहा। घर में जो दो चार आभूषण थे, बिक-बिका कर पापीपेट के गहरे गह्वर में चले गये। भागवत, हरिवंश, और सत्यनारायण की कथा की पोथियाँ, जिन्हें पण्डित जी ने भूखों रहकर भी बचा रखी थीं, वे भी, टहला के गाँजे की चिलम के भेंट चढ़ीं। यहीं तक नहीं, इस अभागे पण्डित पण्डितानी की साड़ी, पगड़ी, दुपट्टा, तक का सफाया हो गया! अब स्नान के बाद दूसरे वस्त्र पहरने तक का टोटा हो गया। यह था बहिष्कार के वज्र का निर्मम प्रहार!

मानव-प्रकृति की यह दुर्बलता सदा से रही है। जब वह अपने किसी कार्य में कृतकार्य नहीं होता तो अपने पर ही खीझ उठता है। दूसरों के सम्मुख जब शक्ति काम नहीं देती, तब वह अपना ही सर फोड़ने लगता है। ठीक यही दशा पण्डित गोबरधन की हुई। ज्यों-ज्यों परिस्थितियाँ उन्हें विवशता की लौह-शृंखला में आबद्ध करती गयीं, त्यों-त्यों वे अन्यायी, अधर्मी पंचों तथा पापी सुखराम पर क्रुद्ध होने के बदले, रमा पर ही कुपित होने लगे। उनका विचार विकृत हो गया और उनका दुर्बल हृदय सोचने लगा—"ओह! यदि रमा स्नान करने न जाती तो आज यह आफत ही क्यों खड़ी होती! सुखराम उसे कैसे ले भागता? और सचमुच उसे सुखराम ही ले भागा, या सुखराम के कथनानुसार रमा स्वयं रघुबीर से मिलने गई, इसका क्या निश्चय है? रमा के कथन पर व्यर्थ आवेश में आ गया, और सुखराम को गालियाँ दे डालीं। मुझे वस्तु-स्थिति का संधान करना चाहिये था। लड़की ने मुझे धोखा दिया। मेरा मस्तक नीचा किया। और अब माँ और भाई के प्राण गले में अटके हुए हैं।

परिस्थिति के इस सिरे पर पहुँच कर पण्डित जी का मस्तिष्क उन्मत्त हो जाता। वे भविष्य-निश्चय के हेतु उद्विग्न और व्याकुल हो उठते। सोचते—क्या रमा को निकाल दूँ! नहीं, यह तो और भी भयंकर बात होगी। उसकी माँ रोती-रोती मर जायगी! और रमा कहीं वेश्या...! ओफ! कल्पनामात्र से रोमाञ्च हो आता है!—परन्तु हाय! इस दुखदायी दशा का अन्त कब और कैसे होगा!

वृद्ध के नेत्रों से बच्चों की तरह अश्रुगंगा बहने लगी। चिन्ता-कुल नेत्रों से पण्डितानी, पति को देखती। कातर और कण्ठ-विह्वल हृदय से रमा, पिता की असह्य विपत्ति समझती! और टहला, वह तो रोज गाँजे के लिये कलह करता।

पण्डित-परिवार को इस प्रकार इन नाना विपत्तियों के कण्टकाकीर्ण पथ, दुस्सह क्षुधा-ज्वाला की प्रलयंकारी अग्नि में दग्ध होते एक वर्ष समाप्त हो गया! संसार में इसी एक वर्ष के अन्तर्गत अनेक परिवर्तन हुए, पर पण्डित गोबरधन के हृदय में कुछ भी परिवर्तन न हुआ। उनमें वही दुखद-ज्वाला, नैराश्य की विषम वेदना चिर आयुष्यमती-सी लहराती रही। उनके शोकाकुल मुख पर क्षणों के लिये भी प्रसन्नता या सन्तोष की रेखा उदित न हुई! हाँ, उनके दुर्बल हृदय में यदि कुछ परिवर्तन हुआ तो यही कि वे रमा से खिंचने लगे। उसका अस्तित्व इन्हें काँटों-सा खलने लगा। वे अपने सारे दुःखों का मूल कारण रमा को ही समझने लगे। अन्ततः उससे इतने चिढ़े कि जिस रमा को कभी वे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे, उससे उन्होंने बोलना तक बन्द कर दिया। उसके एक-एक कार्य पर उन्हें अकारण क्रोध होने लगा। धन्य रे वात्सल्य!

रमा अपने पिता के इन परिवर्तनों के मर्म को समझ रही थी और मन ही मन समाज की स्वार्थान्धता पर रोया करती थी। हे

भगवान ! सत्य और सतीत्व की रक्षा पर मर मिटनेवाली का ऐसा दण्ड ! समाज तो दूर रहा, आज मेरा जन्मदाता पिता तक मुझसे विमुख हो गया। हे ईश्वर ! क्या अभागी स्त्रियों के लिये संसार में अब कोई न रहा !" हतभागिनी रमा, आप रोती और आपही अपने आँसू पोंछ लेती थी।

सूर्यास्त हो गया था। पंडितानी मिट्टी का दीप जला रही थीं। दीप अभी जला ही था कि बुझ गया। पंडित जी ने पूछा—दीपक इतना शीघ्र क्यों बुझ गया ?

सहमी-सी पंडितानी बोली—दीये में तेल नहीं है, कल ही अधेले का तेल मँगवाया था, कुछ कल जला और आज के लिये जो थोड़ा बचा था, वह जलकर बुझ गया।

परिस्थितियों ने तो पंडित को पागल बना ही दिया था। और यह शान्त पागलपन उत्तरोत्तर उत्तेजित ही हुआ जा रहा था, मानों पंडितानी ही इस विषम-दशा की धात्री हों। पंडित ने उग्रता धारण कर कहा—तो कब तक इस दशा में पड़ी रहेगी ?

ऐसा कर्कश स्वर पं० गोवरधन के मुख से आज ही उनके परिवार वालों ने सुना। भयानक से भयानक अपराध होने पर भी वह कभी इस प्रकार उग्र नहीं होते थे। पंडितानी केले के पत्ते की तरह काँप गईं। रमा की हृत्तंत्री झनझना उठी। भयभीता पंडितानी, पति का अग्नि-शर्मा स्वरूप देखते ही ताड़ गईं कि अवस्था अब दूसरा ही रूप धारण कर रही है। कालान्तर के कष्ट-ज्वर पीड़ित मस्तिष्क को अब उन्माद ने आ घेरा है। पण्डितानी चुप रह गईं। परन्तु वहाँ उन्मादी मस्तिष्क पर, इस चुप्पी का प्रभाव कुछ दूसरा ही पड़ा। संभव था, अशान्त हृदय, नारी की कुछ मीठी सान्त्वना और धैर्य-प्रदान की बात सुनकर शान्त होता; किन्तु ऐसा न हुआ। वह चंचल चित्त, उद्विग्न हृदय और उबल उठा। पंडित ने पुनः आवेशित हो

पूछा—क्यों नहीं तुम कुछ उत्तर देती? कब तक इन कठिनाइयों से झगड़ना पड़ेगा? कितने दिन इस अपमान और क्षुधा-ज्वाला की अग्नि में घुल-घुल कर मरना होगा? कितने दिन तस्करों की तरह चूल्हे में सिर छिपाकर बैठना होगा और घर में चिराग तक न जल सकेगा। पुत्र युवा हो गया है। दिन पर दिन मेरी दशा दीन होती जा रही है, मरण-काल समीप आ रहा है। क्या तुम चाहती हो पुत्र का विवाह न हो। वंश का नाम लुप्त हो जाय और पितरों को कोई एक चिल्लू पानी देने वाला तक न रहे!

पंडित जी शराबी की भाँति बोलते गये—सुनो और समझो, जब तक जाति-च्युत रहोगी, न पुत्र की शादी होगी न पुत्री की। इस प्रकार लोक-परलोक दोनों तीन-तेरह हो जायँगे। उत्तर दो, मैं क्या करूँ? लेकिन हाँ, इतना याद रखो, जाति में मिलने के लिये जैसे भी हो चौबे परिवार को प्रसन्न करना होगा, सुखराम की खुशामदें करनी होंगी। बोलो, माँ बेटी राजो हो? रमा बड़े विनीत, मृदु-स्वर में बोली—पिता जी, मैं आपके परिवार को विपत्तियों से बचाने और फूला-फला देखने के लिये अपने सौ-सौ जीवन की बलि देने के लिये प्रस्तुत हूँ। मैं चौबे जी के पाँवों पड़ूँगी—चौबाइन जी के चरण पकड़ूँगी, परन्तु मुझे सुखराम जैसे कमीने आदमी से बोलने की आज्ञा न दीजिए। उसपर दृष्टि पड़ते ही मेरा रोम-रोम जल उठता है।

पंडित जी कुछ रूखे-स्वर में बोले—तुम मूर्ख हो, इसमें जलने न जलने की क्या बात है! जिसमें अपना काम निकले, परिवार में आनन्द का प्रवाह हो, कुल की लाज बचे, उससे दो-दो बातें कर लेने में क्या हर्ज है।

रमा पुनः सविनय बोली—पिता जी, सुखराम मनुष्य नहीं साक्षात पिशाच है। पिशाचों से दूर रहने में ही अपना कल्याण है।

रमा की बातों से पंडित जी क्रोधातिरेक से अपने दोनों हाथ

अंगद की तरह खाट पर पटकते हुए बोले—तुम्हारा सर है। करो खूब अपना कल्याण, और झोंको भाड़ में कुटुम्ब को। मेरी ही जन्मी होकर मुझी को उपदेश देने चली है। तुम लोगों की इन्हीं हठीली नीति ने तो चौका लगाया है। अच्छा, रखो अपनी टेक!

७

एक दिन पंडित जी जब आधीरात को अपने शयन-गृह में लेटे थे तो पंडितानी ने पूछा—क्यों, क्या हुआ?

कुण्ठित स्वर में पंडित बोले—क्या कहूँ, क्या हुआ! अच्छा-बुरा दोनों हुआ।

आश्चर्यमिश्रित स्वर में पंडितानी बोलीं—इसका अभिप्राय! पंडित संगभीर बोले—अभिप्राय यह कि, मस्तक की रक्षा के लिये भुजाओं को काटना होगा! जाति में मिलने के लिये रमा की बलि चढ़ानी होगी।

पंडितानी अब और अधिक घबरा उठीं—क्या कहा? बलि—! रमा का—हाय!

पंडित जी शान्त-मुद्रा से उपदेशकों की भाँति बोले—सुनो, अब घबड़ाने से कुछ होने-जाने का नहीं। ईश्वरेच्छा और प्राणी के भाग्य के विरुद्ध कुछ नहीं हो सकता। जो फलाफल प्राणी का संचित रहता है, उसे भोगना ही पड़ता है, इसमें किसी का कुछ वश नहीं चलता। यही ईश्वरीय नियम है।

पंडितानी बेचारी अपने पति की गहन दार्शनिक विवेचना को न समझ सकीं। बोलीं—चौबे जी ने क्या कहा, उसे साफ समझा

कर कहो न ! तुम्हारी यह पंडिताई की बात तो मुझ गवाँर की समझ में कुछ नहीं आती।

पंडित जी ने झुँझलाकर कहा—अरे, इसमें समझने न समझने की कौन सी बात है। चौबे जी ने कहा, आपके विरुद्ध जातिवालों में काफी घृणा का भाव फैल गया है। यहीं तक नहीं, बल्कि यह घृणा-भाव अब विजातियों के कानों तक पहुँचाया जा रहा है। अतएव, इस भाव को जहाँ तक हो सके जल्द समूल नष्ट करने के हेतु आपको कुछ त्याग करना पड़ेगा, और—

पंडितानी अधीरता-पूर्वक बीच ही में बोल उठीं—कैसा त्याग !!

सुनो भी तो ! त्याग की बात यह है कि चौबे जी के साले के साथ जो रामनगर के निवासी और बड़े समृद्धि-शाली हैं, रमा का विवाह करना पड़ेगा। चौबे जी ने यहाँ तक कहा कि यदि आपके यहाँ वे सम्बन्ध करना स्वीकार कर लें तो इसे आप ईश्वर की कृपा और धन्यभाग मानिए और उसी दिन से वह जाति-बिरादरी का सारा बखेड़ा ठंढा जानिये। मगर एक बात है, चौबे जी के साले की उमर ५०-५५ वर्ष की है, यही सब से बड़ी कठिनाई है। बोलो, इसमें तुम्हारी क्या सम्मति है।

पंडितानी ने म्लान-मुख से उत्तर दिया—मेरी सम्मति क्या ? निर्धन भी अपनी कोई सम्मति रखते हैं। मानलो, यदि वे रखें भी तो उसका मूल्य ही कितना ! अब तो सब "सम्मति" चौबे जी की दया पर निर्भर है ! हाय ! जिस पुत्री को मैंने अपने हृदय का रक्त पिला-पिला कर पाला, उसे एक बूढ़े की पत्नी बनना पड़ेगा ! उसके सारे अरमान मिट्टी में मिल कर रह जायँगे।

विह्वल माता की आँखों से अविरल अश्रुधारा बह निकली। पं० गोवरधन के भी नेत्र निर्जल न रहे। परन्तु यह पापी पेट जो अधर्म न करा दे। पंडित जी करुण स्वर में बोले—रमा की माँ ! पुत्री का

भविष्य सोच-सोच कर मैं भी काँप रहा हूँ—मेरा भी हृदय रुदन कर रहा है, परन्तु तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ? इस वृद्ध-जीवन में ऐसी यंत्रणामय कठिनाइयों से सामना करना ही मेरे भाग्य में बदा था। कहो, मैं क्या करूँ! मेरे लिये तो दोनों ओर कूप है! जाति बहिष्कृत होकर रहने से एक ही प्रकार का घाटा नहीं है, चतुर्दिक घाटा ही घाटा है! टहला कोरा रह जायगा, वृत्ति चली जायगी, भूखों तड़प-तड़प कर मरना होगा और कोई शव उठाकर फेंकने वाला तक न मिलेगा! तब, अन्धा होकर धिक्-जीवन बीताने से क्या लाभ? बुद्धिमान सर्वस्व जाते देख, आधे का परित्याग कर देते हैं। यदि एक रमा की बलि हो जाने पर परिवार की प्रतिष्ठा और प्राण, दोनों की रक्षा हो जाती है, तो एक के लिये दस का प्राण-हरण मूर्खता ही नहीं अधर्म भी है। एक बात और है, हम-तुम रमा के कर्मदाता नहीं। कौन जानता है, इस आकस्मिक सम्बन्ध में रमा के अभागे अदृश्य का कुछ हाथ हो! संभव है रमा का भाग्य इस सम्बन्ध से ही समुज्ज्वल और उन्नत हो।

पता नहीं बुद्धि-भंडार पंडित जी, एक बूढ़े मरणासन्न के संग रमा का गँठ-बंधन कराकर, उसके भाग्य की उन्नति एवम् समुज्ज्वलता अपनी किस दिव्य-दृष्टि से देख रहे थे! यदि वे अपनी उस अभागिनी दुहिता के कर्मदाता न थे, तो उस ग़रीब के "कर्म" को इतने दुरूह "परीक्षा-भवन" में बल-पूर्वक ढकेलने वाले कौन थे? यह उसी पर छोड़ देते। अपने भाग्य का निपटारा वह अपने आप कर लेती। स्वार्थ-साधक पंडित अपना अपराध कर्म—भाग्य—भवितव्यता—अदृश्य आदि निष्प्राण, निष्क्रिय शब्दों के मत्थे ठोंक आप घुट्टी पी लेना चाहते थे। धन्य रे कर्मवाद!

पंडितानी क्या बोलतीं! वह तो कह चुकी थीं—"हम गरीबों की सम्मति ही क्या, और कितने मूल्य की!" वे चुप रह गईं।

पंडित जी बोले—तो कल चौबे जी को वचन दे आऊँ।

विरक्त-सी पंडितानी बोलीं—दे आना, जब ओखली में सर पड़ा है तब चोट की क्या गिनती, चाहे सौ पड़े या हजार !!

पति-पत्नी का अलाप-संलाप समाप्त हो गया। पंडित जी स्थिर चित्त सो रहे, पर पंडितानी को सारी रात नींद न आई। उस मातृ-मंदिर में अपनी कन्या का भविष्य जो चक्कर काट रहा था! आह! काश! हम स्वार्थी जीव उस वेदान्त को समझ पाते!

बड़े प्रातः उठकर पंडितानी रमा के शयन-कक्ष में गईं! रमा उस समय बेसुध सोई थी। उस मंदभागिनी को क्या पता था कि रात्रि में ही उसके बलि-प्रदान का निश्चय हो चुका है। आज पंडितानी ने बड़े मनोयोग-पूर्वक अपनी पुत्री का रूप देखा। उसकी शोभा प्रातः पुण्डरीक की भाँति प्रस्फुटित हो रही थी। वह सोती रमा का मस्तक अपनी जाँघ पर रख, धीरे-धीरे सिसक सिसक कर रोने लगीं। आँसुओं की निर्झर वर्षा ने रमा को जाग्रत कर दिया। वह घबराई सी उठ बैठी। देखा, माँ के नेत्रों से आँसुओं की धारा अविराम गति से बह रही है। विपत्ति की मारी रमा ने समझा, आज फिर कोई नयी आपदा आई। वह व्याकुलता से माँ की ओर देखती हुई बोली—क्यों माँ! रोती क्यों हो? क्या चौबे जी ने बाबू जी को टाल दिया! उन्होंने हम लोगों के उद्धार का कोई यत्न न बताया?

पंडितानी खिन्न स्वर में बोलीं—यत्न तो बताया बेटा, पर आँखें निकाल कर! उद्धार होगा, पर जीवन भर रोते बिलखते! चौबे जी का कहना है कि बिरादरी में मिलने के लिये रमा की शादी उनके साले, बुद्धू दूबे से करनी होगी।

रमा—तो चौबे जी के साले से मेरा विवाह हो जाने पर हम बिरादरी में मिल जाएँगे। हमारा दुख दूर हो जायगा?

पंडितानी—तुम्हारे बाबू जी ने तो यही कहा है बेटा! मगर

मुझसे कुछ कहते नहीं बनता, बुद्धू दूबे की उमर ५०, ६० साल की है।

रमा हृदय के सारे साहस को संचित कर बोली—माँ! अगर उनकी उमर ५०, ६० साल की है तो क्या हुआ? मुझे इसकी तनिक चिन्ता नहीं। मैं भोग-विलास, सुख-आनन्द कुछ भी नहीं चाहती। केवल यही चाहती हूँ कि हमारा धर्म बचा रहे और आप लोगों की आपदाओं का अन्त हो।

पुत्री की ऐसी प्राण-दायिनी वाणी सुनकर पंडितानी का हृदय भर आया। वह उसे हृदय से लगाकर बोलीं—धन्य है बेटी, तेरा त्याग और साहस!

'माँ, इसमें त्याग और साहस की कोई बात नहीं। आप लोग मेरे सर्वस्व हैं। क्या तुम लोगों का ऋण मुझपर नहीं है। संतान का धर्म है, मातृ-पितृ-ऋण से मुक्त होने के हेतु वह सदैव कटिबद्ध रहे। आप बाबू जी से कहिये, मैं रामनगर के दूबेजी से विवाह करने को सहर्ष प्रस्तुत हूँ। मुझे कोई विवाद नहीं। परन्तु हाँ, काम निकल जाने पर आप लोग दूध की मक्खी ही न बनी रहें, इसे खूब समझ लीजियेगा।

पंडितानी रमा के निकट से उठकर पंडित जी के पास पहुँची। पंडित जी उस समय सन्ध्यासन पर बैठे, ठाकुर मूर्ति के सम्मुख प्रार्थना कर रहे थे। उनके सारे मनस्ताप, श्री० ठाकुर जी की प्रतिमा के समक्ष पानी बनकर आँखों की राह गिर रहे थे। पति का ऐसा वेदना-व्यञ्जक मुख देख पंडितानी का हृदय रो उठा। वे एक ओर खड़ी हो फूट-फूट कर रो पड़ीं। पत्नी की कातर क्रन्दन-ध्वनि पंडित जी के कानों में पड़ी और वे तत्क्षण सन्ध्यासन से उठते हुए बोले—रमा की माँ, तुम रो रही हो! धैर्य रखो। प्राणीमात्र कर्माधीन है, तुम्हारे रुदन से कुछ न होगा। हाँ, होगा यही कि मैं और पागल

हो उठूँगा, और संभव है अनवरत कष्टों से ऊबकर प्राण दे बैठूँ। इस कारण समय असमय का ध्यान रखो। रमा की माँ तुम धीमान होकर क्यों चूकती हो। हाँ, रमा से तुमने पूछा! वह क्या कहती है?

पंडितानी आँसू पोंछती हुई बोलीं—वह क्या कहेगी, पुत्री मानवी नहीं, देवी है। किसी अज्ञात पाप से वह हम दरिद्र पापियों के घर जन्मी है। उसने तो हमारे आपत्तियों को दूर करने के लिये अपनी आहुति तक देने का वचन दे दिया है।

पंडित जी का मानों हृदय-कपाट खुला, वे गद्‌गद कंठ से बोले—धन्य! मेरी पुत्री धन्य है। रमा की माँ, सचमुच मेरी पुत्री के अन्तर्पट में कोई देवात्मा छिपा बैठा है। अच्छा तो मैं जाता हूँ चौबे जी के पास।

स्वार्थरत पंडित प्रसन्नता में उछलते चौबे जी के यहाँ पहुँचे। बात पक्की हो गई और इस अभागिनी कन्या के बलि-प्रदान की तिथि-मुहूर्त उसी पोथी-पत्रा से निश्चित किया गया, जो किसी का शुभाशुभ, मंगल-अमंगल नहीं देखता। निश्चित समय पर इन हत्यारों का एक वृहत् गिरोह एक निरीह नारी के जीवन की बलि लेने के हेतु एकत्रित हुआ। दन्त विहीन, कम्पित गात, वर पालकी पर बैठा झूम रहा था, मानों उसे लकवा मार गया हो। धर्म शास्त्रों में लिखित आज्ञाओं के प्रतिकूल यह मंगलमय अनुष्ठान मंत्रोच्चार द्वारा समाप्त होगया, पर किसी ने "चूँ" तक न की। सब प्रसन्न थे, मानों क्षुधा-पीड़ित गृद्ध को शव मिला।

आँखों के आँसू पोंछती, पड़ोसिनों के उलहने सुनती रमा की माँ अपनी पुत्री के इस 'बलि-प्रदान' में योग दे रही थी। बलिदान-कार्य सम्पन्न हो गया। बिलखती हुई रमा, पड़ोसिनों द्वारा पालकी में ठूँस दी गई, और पालकी के साथ ही नैहर से सदा के लिये उसका अस्तित्व भी उठ गया।

८

जहाँ प्रतिपल एक युवा नारी-हृदय की आकांक्षाओं की हत्या होती हो, ऐसी बध-भूमि में रमा पहुँचा दी गयी। साधारण नेगाचार के पश्चात् गृह-प्रवेश हुआ। रमा की मोहनी मूर्ति और उसके खूसट पति के कंकाल को देख, सहृदया देवियाँ यहाँ भी आँसू बहाये बिना न रहीं।

एक सूने घर में रमा एक खाट पर अकेली पड़ी है। सामने ताख पर दीया जल रहा है, और दीये की तरह उसका हृदय भी। सूने-सदन में रमा को अकेली पाकर आज उसे अतीत की स्मृतियाँ उसके नर्म-मर्म को बार-बार लौह हस्तों से मसल रही हैं। आज उसे अपने बाल्य-जीवन की अनेकों कहानियाँ अभी कल की घटना की तरह याद आ रही हैं। वह पाठशाला! वह रेवती तट! मातृ भूमि की वे गलियाँ। रघुनाथ, सुखराम, पञ्चायत, पिता, माँ, टहला! उफ! रमा का हृदय कभी आल्हाद से भर आता, कभी करुणा से काँप उठता है। वह अपने भविष्य का भयङ्कर चित्र, अपने विनाश की भयावह कल्पना अंकित कर रही है। परन्तु अपने इस महाविनाश में भी उसे सन्तोष की एक ठंढी छाया दीख रही है। वह सोचती है—यदि एक व्यक्ति के कष्ट से तीन प्राणियों को सुख मिले तो क्या ही अच्छी बात है। अब तो पिताजी का परिवार बहिष्कार की वह्नि में झुलसकर दग्ध न होगा! उनकी कीर्ति अक्षुण्ण हो जाएगी! उन्हें रोटियों के लाले न पड़ेंगे! तन पर चिथड़े न झूलेंगे। कौड़ियों

के मुहताज न रहेंगे। फिर भी मुझे यहाँ कष्ट ही क्या है? स्वामी वृद्ध हैं तो क्या? रहें वृद्ध, मै उनकी सेवा तो कर सकूँगी।

सहसा इसी समय किवाड़ खुला। एक वृद्ध पुरुष घर में घुसा और पुनः किवाड़ बन्दकर रमा के शय्या की ओर बढ़ा। रमा समझ गई, यह मूर्ति मेरे भाग्य-निर्माता की है। वह शीघ्र खाट से उठ खड़ी हुई, और अनियन्त्रित वस्त्र को यथास्थान करती हुई एक कोने में जा लगी। बूढ़ा खाट पर जा बैठा और बोला—"बल्लू की माँ!"—आह! एक नई नारी के लिये, जिसने अभी पुरुष सहवास का मर्म तक न जाना था—माँ का यह सम्बोधन कितना विषाक्त था, जैसे एक नवयुवक को कोई "बूढ़ा-बाबा" कह दे। "शर्म—लाज छोड़ो। घर तुम्हारा है, इसे सँभालो, चलाओ। मैंने तुम्हारे रूप, गुण की प्रशंसा सुनकर ही तुम्हारे बाप जैसे एक जातिभ्रष्ट के घर विवाह किया है।"

बूढ़े के इस वाक्य ने जले पर नमक का काम किया। कोई स्त्री अपने नैहर की निन्दा कदापि सहन नहीं कर सकती। रमा के हृदय पर गहरी ठेस लगी। यहाँ भी जाति-भ्रष्टता की बात उसे प्रथम ही दिन सुनने को मिली, और वह भी स्वामी के मुख से! अभाग्य! रमा यह तीखा तीर किस धैर्य व साहस से सहन कर सकी, इसे बताना हमारी सामर्थ्य के बाहर है। उसके बूढ़े पति ने यह बात उसे दुखित करने की इच्छा से नहीं कही थी। वह तो रमा के शिर पर अपने इस महान उपकार का भार लादकर उसे अपना आभारी, कृतज्ञ तथा भक्त बनाना चाहा था। परन्तु बूढ़े की यह बात रमा की पति-भक्ति पर वज्रवत गिरी। लेकिन बूढ़ा मन ही मन प्रसन्न था। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो रमा पर उसके शब्दों ने असर कर लिया है। अब वह अपनी लुप्तप्राय कामुकता एवम् भावुकता के प्रदर्शनार्थ खाट से उठकर रमा की ओर बढ़ा और रमा की कलाई पकड़ अपनी ओर

खींचने लगा। इस बूढ़े कामान्ध के पास युवकोचित शील-संकोच कहाँ?

रमा सहम गयी। उसे ऐसा लगा, मानो उसकी मौत उसे पकड़कर श्मशान की ओर घसीटे लिये जा रही है। रमा ने उन सूखी हड्डियों के चंगुल से अपनी कलाई छुड़ाने की तनक चेष्टा की, और इधर इस खूसट की रसिकता जैसे बलबला कर फूट निकली। वह अपने दंत-विहीन मुख से बड़बड़ा उठा—अरे, हाँ—! हाँ!! ऐसी बेरुखाई!" फिर वह रमा के कुसुम सदृश कोमल हाथों को अपनी शुष्क तलहटियों से दबाता हुआ बोला—आह! क्या कोमल हाथ है, जैसे मखमल!

६

यह ससुराल का संसार भी हमारी देवियों के लिये उस कारागृह से कहीं बढ़कर एक वस्तु है जिसका आज तक उचित नामकरण ही नहीं हो सका है। कारागृह तो अच्छा है क्योंकि वहाँ बन्दी एक चाहारदिवारी के घेर में नियन्त्रण-पूर्वक रहते हैं। दिल खोलकर हँस सकते हैं, बातें कर सकते हैं और मुँह पर बिना किसी आवरण के घूम-फिर सकते हैं। उनके हँसने, छींकने पर किसी का आधिपत्य नहीं रहता। परन्तु ससुराल का कारागृह वह कारागृह है जहाँ की चहारदीवारियों के साथ-साथ प्रकृति—प्रदत्त जो अधिकार इन्द्रियों को मिले हैं, उनपर भी उनकी हुकूमतें चलती हैं। और उन्हें ससुराल की आज्ञा के वशीभूत होना पड़ता है। कड़ी आवाज़ में न बोलो, मुँह पर सर्वदा डेढ़ हाथ का घूँघट डाले रहो, खुलकर मत हँसो,

जल्दी-जल्दी मत चलो आदि, ये समस्त प्रतिबन्ध इस कारण हैं कि स्त्रियाँ पुंश्चली, भ्रष्टा और धृष्ट न हो जाएँ। पर हम तो इतने अभागे मूर्ख हैं कि अपनी बहिनों को कुलटा, भ्रष्टा बनाने के लाखों आचरण स्वयं प्रतिदिन ही करते रहते हैं। इस कृत्रिम प्रतिबन्ध से क्या होता है!

ससुराल के इन सारे नियमों और आज्ञाओं को रमा पालन करती थी, उसी तरह जिस प्रकार अभागे गिरमिटिये, टापूओं के नृशंस दानवी नियमों का पालन अपना प्राण देकर भी करते हैं। वह बड़े प्रातःकाल, जिस समय घर के सब लोग बिस्तर पर ही पड़े रहते, उठती और शौचादि से निवृत्त हो बड़ी तत्परता से गृहस्थी में लग जाती। वह अपनी ननद को, जो उससे रिश्ते में छोटी थी अपनी बड़ी बहन के तुल्य मानती। पतोहू को पुत्रीवत प्यार करती और अपनी मृत सौत के पुत्र—बलराम को अपने औरस पुत्र से भी अधिक दुलार करती। बलराम के खाने के लिये वह रोज अच्छी-अच्छी चीजें अपने हाथों तैयार करती और भोजन के समय उसके निकट बैठ उसे बड़े चाव से खिलाती। अपनी इस प्रकार की निरीह, निर्मल सेवाओं के द्वारा रमा सारे कुटुम्ब का स्नेह-भाजन बन गई। सभी उसका आदर करने लगे। और दूबे जी--दूबेजी तो उसके रूप, शोभा पर जी-जान से लट्टू थे ही। तिसपर रमा के इन सुन्दर आचरणों ने उनके हृदय में, रमा के प्रति और तरल अनुराग उत्पन्न कर दिया। यों रमा के जी में चाहे जो दुख सुख हो, परन्तु उसने कभी भी दूबे जी के प्रति अपनी उदासीनता एवं उपेक्षा प्रकट न की। वह उनके एक-एक संकेतों पर निष्प्राण काष्ट-पुत्तलिका की भाँति नाचने लगी। घर की मालकिन रमा थी; परन्तु उसने कभी अपने जी से कोई काम नहीं किया। वह जो भी करती अपनी ननद पतोहू से परामर्श लेकर।

कुल १५-२० दिन के बाद पण्डित जी टहला के साथ, पुत्री का कुशल क्षेम जानने के लिये दूबे जी के घर पहुँचे। पिता पुत्र का अपूर्व स्वागत हुआ। दूबेजी अपने नये साले, ससुर को विलोकित कर फूले न समाये। अपने पोपले मुख से पण्डित जी की सुपुत्री की गुणगाथा एक सांस में गाते-गाते हर्षातिरेक से भाव-विह्वल हो गद्‌गद हो गये। इधर पं० गोवरधन की भी छाती गजों लम्बी हुई जा रही थी। उनका हृदय पुत्री-स्नेह से प्रवाहित हो समुद्र-सा उफान लेने लगा। वह कृत-कृत्य हो बोले—बाबू, मेरी पुत्री साक्षात सीता की अवतार है। हम दोनों पति पत्नी ने जितना प्यार-दुलार रमा का किया, उसका शतांश भी टहला को नसीब न हुआ।

दूबे जी अपने श्वसुर महोदय के हर्ष पर, हर्ष लादते हुये मुँह कँपाकर बोले—जी हाँ, इसमें क्या सन्देह! पुत्री आपकी साक्षात सरस्वती हैं। प्रसाद स्वच्छ और स्वादिष्ट बनाती हैं, मानो अन्न-पूर्णा ने स्वयं बनाया हो। मेरा बलुआ तो जब तक वे स्वयं खिलाने नहीं बैठतीं, खाता तक नहीं। वह रोज ही मुझसे तो क्या, मुहल्ले के सारे लोगों से कहता फिरता है—"ऐसा दुलार, और ऐसी अच्छी अच्छी चीजें बनाकर मेरी अपनी माँ भी मुझे नहीं खिलाती थी।"

इतने में भीतर से, उछलता, कूदता बलराम निकला। उसने अपने नये नाना, मामा का चरण छूकर प्रणाम किया और कहा चलिये, भीतर माँ जी बुलाती हैं।

पण्डित जी भीतर गये। रमा ने पिता भ्राता को सादर, सप्रेम प्रणाम कर खाट पर बिठाया। घर का कुशल-मंगल पूछा। पण्डित जी ने कहा,— सब कुशल है बेटी! हम तुम्हारी प्रशंसा सुनकर बड़े पुलकित हुए हैं! धन्य हो तुम।

परन्तु रमा ने बात बदलते हुए पूछा—बहिष्कार के विषय में क्या हुआ।

पण्डित जी बोले—अब बहिष्कार तो वैसा नहीं है। चौबे जी के घर से बयना आदि का रस्म तो शुरू हो गया है, हाँ अभी खान-पान होना बाकी है। रकटू पाँड़े, जय गोबिन्द तिवारी और आचारी से अभी पूर्ववत ही व्यवहार चल रहा है। उनके संग अभी कोई रस्म शुरू नहीं हुई। यजमानों के यहाँ अपना निमन्त्रण होता है, यजमान भी अपने दरवाजे पर आते हैं, परन्तु पहले की भाँति नहीं। घर पर सुखराम का आवागमन एकदम बन्द है।

रमा सहर्ष बोली—बहुत अच्छा है पिताजी, यदि वह दुष्ट घर नहीं आता। दुर्जन और सर्प का गृहवास नाश का ही कारण होता है।

पण्डित जी—हाँ, सो तो ठीक ही है बेटी, पर तुम कहो, तुम तो यहाँ आनन्द से हो?

पुत्री को चूल्हे में झोंककर पण्डितजी, शास्त्रज्ञ तथा ज्योतिषविद्या-विशारद होकर भी न जाने किस मुख से उसका आनन्द-समाचार पूछ रहे थे।

रमा बोली—हाँ, आपकी दया से सब आनन्द ही आनन्द है।

दो, चार दिन पुत्री के श्वसुरालय में निवास कर पिता, पुत्र घर चले आए।

१०

कुल १७ मास, रमा के ही शब्दों में, रमा के 'सानन्द' ससुराल में बीते। बुढ़ापे की स्त्री पर अत्यधिक स्नेह होना कोई नवीन बात नहीं। दूबे जी महाराज घर के सारे झंझटों से छुट्टी ले चौबीसों घण्टे

रमा के निकट गुजारने लगे। सदैव के स्त्री सहवास ने अतृप्त कामेच्छा को और जाग्रत—और उत्तेजित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे दूबे जी नितान्त अशक्त हो गये। ज्वर ने अपना आधिपत्य जमा लिया। अब वे बिलकुल खाट की चीज हो गये और खाट पर पड़े-पड़े यमदूतों के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

दो, चार, दस दिन तक तो बेटे पतोहू और बहन ने दूबे जी की सेवा-सुश्रूषा में खूब तत्परता दिखलायी। मगर ज्यों-ज्यों बीमारी की अवधि लम्बी होती गई, त्यों-त्यों इनकी तत्परता और लगन ढीली होती गई। यहाँ तक कि बेटे, पतोहू और बहन के लिये दूबे जी बवाल होगये। अगर उनके निकट कोई जाता, रात्रि दिवस यदि कोई उनकी सेवा में लगा रहता, तो वह उनकी अभागिनी पत्नी रमा थी, जिसका अस्तोन्मुख सूर्य सदा के लिये अस्ताचल की ओर भागा जा रहा था—जिसकी दुनियाँ अन्धेरी होने जा रही थी।

अपनी बिमारी के छठे महीने बाद, एक दिन एक बजे रात्रि को दूबे जी रमा से बोले—"बल्लू की माँ! थोड़ा जल दो। आह! कंठ काँटा हुआ जा रहा है।" जल पीने के बाद दूबे जी फिर बोले—बलराम, उसकी स्त्री और मुनियाँ (दूबे जी की विधवा बहन) को बुलाओ। मुझे मालूम हो रहा है; आज की रात न कटेगी! अब चलाचली का वक्त आ गया है।

काँपते पैरों से पागलों की भाँति रमा बलराम के शयनकक्ष की ओर दौड़ी। किवाड़ों पर हाथ मार-मार कर बदहवास चिल्लाने लगी—बेटा! भइया, बलराम, तनक उठो लाला! बाबू जी आज जानें क्या-क्या बक रहे हैं। तुम्हें, दुल्हन को और बहन जी को बुला रहे हैं। जरा बाहर निकलो मेरे लाल! हाय! आज की यह रात कैसी भयावनी मालूम हो रही है, मानो इस हत्यारी ने मेरे जीवन-

सर्वस्व को अपहृत करने के लिये ही ऐसा भयानक रूप बना रखा है। उठो बेटा! जरा जल्दी करो।

रमा का गला भर आया, वह रोने लगी। फिर भी कुछ उत्तर न मिला। अब वह और जोर से किवाड़ पीटती, रोती हुई बोली—बहू! बेटी! क्या तुम भी सो गई? तनिक बाबू को जगा दे बेटी! तुम भी उठो और अब चलती-चलाती बेर बूढ़े बाप का आशीश ले लो। फिर भी कोई उत्तर न मिला।

अब विश्वास अविश्वास में, सनाथता निरसहायता में परिणत हो गई। रमा गिड़गिड़ा कर रोती हुई, जैसे वह भीख माँग रही हो बोली—क्यों भइया! कुछ बोलते नहीं! तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, पाँवों पड़ती हूँ, जरा चलो। उनके निकट न जाना बाहर ही से खड़े-खड़े सुनकर चले आना, मरण सेज पर पड़े पिता की अन्तिम अभिलाषा, आशीश याचना भी तो पूरी कर दो मेरे लाल! बहू रानी! जरा जगा दो बाबू को।

इतनी आर्त्त विह्वल पुकार, ऐसी सिकुड़ी सिकुचित गिड़गिड़ाहट सुनने के बाद भीतर ही से अनमना-सा बलराम बोला—अम्मा! तुम फिजूल ही चिल्ला रही हो। और रोग ने उनके मस्तिष्क को दूषित कर दिया है। "इसे बुलाओ उसे पुकारो" विक्षिप्तावस्था में तो वह बकते ही रहते हैं, और उसे तुम सच मानकर व्यर्थ आप तो आप, हम लोगों के भी नाकों दम किये देती हो। यह तो निश्चय ही है कि वे मरेंगे अवश्य, चाहे आज मरें या कल, तो फिर एक बजे के जाड़े की रात में उठकर शीत में मरने से क्या लाभ? बच्चा साथ ही सोया है, उठने पर चिल्लाने लगेगा। तुम भी जाकर अभी आराम करो, सुबह जाऊंगा। रमा पुनः प्रार्थनायुक्त स्वरों में बोली—सुबह नहीं बेटा, अभी चलो। मेरी विनती स्वीकार करो। मैंने आज तक तुमसे कभी किसी वस्तु की याचना नहीं की। आज मैं तुमसे यही भीख माँगती

हूँ। उनकी मृत्यु तो निश्चय है ही, पर तुम उनके एकमात्र पुत्र हो, आशा हो। तुम पिता होकर भी पिता का हृदय नहीं समझते! चलो, अब देर न करो, न जाने वहाँ उनकी क्या दशा होगी?

"दशा वशा सब ठीक ही होगी। माँ, तुमने व्यर्थ ही एक तूल खड़ा कर दिया!"—झुँझलाता हुआ बलराम बाहर आया। उसने देखा, रमा इस भयंकर शीत में भी एक पतली सी साड़ी पहने, किवाड़ों से लगी अपनी आँखों से निकलती समुद्र-तरंग को अपने उसी पतले वस्त्र के छोर से बार-बार रोकने का असफल प्रयत्न कर रही है। बलराम को बाहर निकला देख रमा बोली—दुल्हन और बच्चे को भी ले लो भइया!

अब तो बलराम बोला—ओफ-हो:। चलो न, मैं तो चलता ही हूँ, वहाँ लश्कर की क्या जरूरत है!

"नहीं, नहीं, उन्होंने ऐसा ही कहा है! वादाविवाद का समय नहीं, मृत्यु के किनारे पड़े हुए पिता के आग्रह को स्वीकार करो। मैं तुम्हारे पाँवों पड़ती हूँ—!"

रमा हाथ जोड़कर बलराम के पैरों पर गिरना ही चाहती थी कि भीतर से बलराम की स्त्री बोली—हाँ, हाँ, माँजी! आप पाँव क्यों पड़ती हैं। चलिये मैं चलती हूँ, बच्चा भी चलता है। यह पिता जी के ही रक्तपानी से सिञ्चित उद्यान है, जिसकी छाया में हम अपना दिन सुख से बिता रहे हैं।

इतनी कोमल, मधुर, मर्मस्पर्शी स्त्री-सहानुभूति के शब्द सुनकर रमा का धैर्य बन्धन अब छिन्न-भिन्न हो गया। वह दौड़कर बलराम की स्त्री को पकड़ फूट-फूटकर रोने लगी। बलराम की पत्नी उसे ढाढ़स देती हुई बोली—माँजी, आप चिन्ता न कीजिए। हम आपको पहले खिलाकर खायेंगी। आपकी आज्ञा बिना हम एक तिनका इधर-उधर न करेंगी। आप विश्वास रखें, हम आपको कोई कष्ट न होने देंगी।

रमा अपने शरीर का सारा भार बलराम की स्त्री के कन्धों पर रख आगे बढ़ी, मानो सुदूर यात्रा से उसके अंग-प्रत्यंग शिथिल हो गये हों। वह चलते समय बलराम से बोली—भइया, बाबू जी ने बहन जी को भी लिवा लाने को कहा है।

अच्छा!—कहकर बलराम बहन जी को बुलाने गया। बहन जी भी मन ही मन इस जाड़े की रात के कष्टों की आलोचना प्रत्यालोचना करती चलीं।

दूबे जी की आँखें ऊपर की ओर टँग गईं थीं। कंठावरोध हो रहा था। उन्होंने संकेत द्वारा जल माँगा। रमा ने जल पिलाया। पश्चात् दूबेजी ने बड़े सतृष्ण नेत्रों से अपने उस परिवार को, अपने उस भव्य-भवन को देखा, जिसकी छाया में उन्होंने अपने जीवन के ५०-६० साल बिताये थे और जिसकी रक्षा के लिये उन्होंने धर्म अधर्म, उचित अनुचित सब कर्म किया था। आज उनका वह प्रिय परिवार, प्यारा प्रासाद उनके मरणासन्न मुख की ओर टक-टक देख रहा था। वे पीड़ा में तड़प रहे थे। उनकी हृतंत्री के तारों को कोई रस्सी की तरह ऐंठ रहा था, किन्तु उनके उस प्रिय परिवार तथा प्रासाद के पास, इस असह्य कष्ट से मुक्त करने का कोई साधन, कोई उपाय न था। सब पंगु हो रहे थे। दूबे जी के हृदय में ज्ञान-ज्योति जल चुकी थी। क्षीणस्वर में विरक्त हो बोले—बल्लू और बेटी बल्लू की बहू! अब तुम्हीं दोनों इस घर के स्वामी हो, मैं तो चला। कच्ची उमर की मेरी एक बहन तो विधवा थी ही, जिसके दुःख से मैं आजीवन अपार कष्ट भोगता ही रहा, परन्तु चलती चलाती मैंने यह मूर्खता की, कि घर के पाँच हजार रु० अपने बहनोई चौबे को घूस देकर, इस साध्वी कन्या का जीवन नष्ट करने का महापाप कमाया। मैं जानता हूँ यह मेरे युवा-काल का ही दुष्परिणाम है, जिसने मुझे इस बुढ़ापे में एक नवयौवना से पाणि-ग्रहण के निमित्त

प्रोत्साहित किया। उसी का प्रतिफल है कि मुझे इस मरण-काल में भी शान्ति नहीं। मुझ अधम के पास कोई शब्द अब शेष नहीं जिसे कहकर इस अभागिनी को कुछ सन्तोष अथवा धैर्य दे सकूँ। उफ़!—"

जरा दम लेकर दूबेजी ने फिर कहना शुरू किया—बेटा बलराम! घर की लाज रखना, कुल गौरव की रक्षा के हेतु सर्वस्व क्या प्राण तक दे देना, इसकी रक्षा अवश्य करना! अपनी बुआ और इस दुखिया माँ पर विशेष कृपा रखना। यदि उससे कुछ भूल चूक भी हो जाय तो उसे क्षमा कर देना। देखो यह थाती मैं तुम्हें सौंपे जाता हूँ। इसे नष्ट न करना और मृत्युशय्या पर पड़े अपने अधम पिता की इतनी बात मानना। मैंने तुम्हें बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर पाला-पोसा है। बेटी! मेरी लक्ष्मी, बलराम की बहू, तनक आगे आओ बेटा! तू बड़े घर की बड़ी बेटी है। बल्लू से बहुत बुद्धिमान है। देखना, बल्लू को सँभालते रहना और अपनी इस अभागिनी दुखिया सास पर दया—"

दूबे जी रुकते-रुकते बिलख पड़े, मानों उनकी अन्तर्वेदना रोम-रोम से फूट निकली हो। पर जब उनकी दृष्टि, पायताने खड़ी रोती अपनी हतभागी पत्नी पर पड़ी, तो वे और विकल हो गये। वे रोते कण्ठ से बोले—बलराम की माँ, तुम रो रही हो! आह! मेरी समझ में नहीं आता, तुम्हें क्या कहकर समझाऊँ? देखो बलराम को तो तुम प्यार करती ही हो, अब इसकी आज्ञाएँ भी मानना। इसे सदा प्रसन्न रखना। बल्लू और इसकी स्त्री तुम्हें जो खाना वस्त्र दें, उसी पर सन्तोष करना और गृहस्थी के कामों में बराबर हाथ बँटाते रहना और अधिक मैं तुम्हें क्या कहूँ! तुम देवी हो, आज तक तुमने मुझ जैसे एक पतित का कभी स्वप्न में भी अनादर, अपमान नहीं किया, इसके लिये मेरा रोम-रोम कृतज्ञ है। मुझ जैसे अधम से

तुम्हारा सम्बन्ध, तुम्हारे किसी पूर्व-पाप के ही कारण हुआ है। देवी ! मुझे क्षमा करना।

दूबे जी शिथिल पड़ गये। पितृ-हृदय का इतना निष्कपट रूप देख बलराम का भी हृदय आर्द्र हो गया। वह बच्चों की तरह रोता, चिल्लाता बाप के चरणों पर गिर पड़ा—बाबू जी ! मैंने आपकी कुछ सेवा न की, मुझे क्षमा कीजिये। मैं आपकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन, अपने हृदय का रक्त, प्राणों की भेंट और सारी सम्पत्ति की बलि चढ़ाकर भी करूँगा। जब तक जीवित रहूँगा, माँ को स्वप्न में भी कष्ट न होने दूँगा। जैसे यह आपके समय में मालकिन रही हैं, वैसे ही अब भी रहेंगी। इन्हीं का दिया हुआ हमलोग खायेंगे। पिता जी, मैं आपके चरण छूकर सौगन्ध खाता हूँ, इसमें लेशमात्र भी इधर उधर न होगा। आप अपने इस नालायक बेटे की बात पर विश्वास करें।

दूबे जी के मानों प्राण लौट आए। उनके मुख पर एक मधुर शान्ति तथा संतोष की रेखा अंकित हो गई। वे बड़े गद्गद स्वर में बोले—अच्छा, तुम लोगों का कल्याण हो। अब मैं बड़े सुख से मरूँगा।

और सचमुच वह दीपन्शिखा, जो आज सप्ताहों से बुझ जाने के लिये तिलमिला रही थी, एकाएक पलकों में, बड़े जोर से भभकी और क्षणों में शान्त हो गई।

एक ही साथ चार विकल, विह्वल प्राणियों के हृद्विकंपनकारी आर्तनाद, भवन के ऊँचे प्राचीरों का भेदन कर दिगदिगान्तर में गूँज उठा। लोग दौड़ पड़े और देखते-देखते दूबे जी के आँगण में लोगों की अपार भीड़ एकत्रित हो गई। "दूबे जी आज चल बसे। बड़े दुःख की बात है।" सबों की जिह्वा पर यही एक बात थी। दूबे जी के बालकाल्य से लेकर आज तक की गुण-गाथायें ढूँढ़-ढूँढ़ कर गाई

जाने लगीं। घोर शत्रुओं ने भी आज उनके गुण-गान में कोई कोर-कसर नहीं रखी, मानों दूबे जी में केवल गुण ही गुण था। परन्तु सच तो यह है कि ऐसे अवसरों पर हमारी कटुता तथा मनोमालिन्य, सहानुभूति के प्रबल प्रवाह में बह जाता है, और हम सच्चा मानव-हृदय प्राप्त करते हैं।

"श्रीराम नाम सत्य है" के साथ दूबे जी का शव संस्कारार्थ उठा। उस समय इस "श्रीराम सत्य है" की तीक्ष्ण कटुता रमा को मालूम हुई और उसकी जो दशा हुई, वह बताना लेखनी के सीमा के बाहर की बात है। वह वर्णन की वस्तु नहीं, वह तो हमारे-आप के सोचने और रोने की बात है।

११

यद्यपि रमा इन नाना उपद्रवकारी "कुञ्जियों का झब्बा" यानी गृह स्वामित्व लेने के विरुद्ध थी और इसके लिये उसके स्वर्गवासी पति भी मना कर गये थे, तथापि दूबे जी के श्राद्धादि के पश्चात् मुहल्ले के गणमान्य तथा बलराम के आग्रह बाध्य हो रमा को यह मुसीबत मोल लेनी ही पड़ी। युवती रमा की पीड़ाओं का परिशमन, उसके वैधव्य जीवन का मनोरञ्जन, मन-उलझाव तथा उसके मान प्रतिष्ठा की संजीवनी, लोगों ने इन इञ्च भर की बेजान लोहे की चाभियों को समझा, और यह संजीवनी बलात् उसके गले में लटका कर ही माना। "रमा अब भी घर की मालकिन है, इससे इसे वैध्यव्य न अखरेगा, और इसे कोई सता न सकेगा।" यही मिथ्या-संतोष अपने पल्ले बाँधकर, पुत्री का रँड़ापा, अपनी नीच स्वार्थ पारायणता

का पतित रूप देख, पण्डित गोबरधन भी अपने घर सिधारे। "रमा अब गृह-स्वामिनी है, उसकी आज्ञा बिना अब कोई कार्य नहीं हो सकता" यह शूल जिस निर्ममता-पूर्वक बहन जी के मार्ग को छेद रहा था, उसे बहन जी ही जानती थीं। "हाय! कल की छोकड़ी, गैर की बेटी, मेरे घर में, मेरे जीते जी, मालिक बन गई। ओह! यह कलमुँही अपनी कमर में कुञ्जियों का गुच्छा लटका कर ऐंठती फिरती है? हाय!! हाय!! मेरा यह अपमान! मेरी यह उपेक्षा!! अच्छा!!" समझ लूँगी।

इधर बहन जी के हृदय में स्वामित्व के हेतु यह महाद्वंद छिड़ा था, उधर रमा के शीश पर घर के नाना जञ्जाल धमा-चौकड़ी मचा रहे थे। इसमें सन्देह नही कि उसके दुखित जीवन के दिल-उलझाव की एक चीज मिल गई, जो उसके वर्तमान तथा भविष्य के कष्टों को सोचने का अवसर न देती थी। रमा एकदम गृहस्थी में लीन हो गई, यहाँ तक कि उसे अपने भोजन-वस्त्र की सुध तक नहीं रहती। वह अपने स्वामी की इस परिवार-बाटिका को अपने हृदय-रक्त से सींचने लगी। "उस खेत की बोआई अभी बाकी है, उसके 'हैन्ड-नोट' की मियाद खतम हो गई है, उसने अभी रुपये लेकर भी काग़ज़ नहीं बदला, बल्लू की स्त्री की नथ टूट गई है, बहन जी साड़ी मँगाने को कह रही हैं, बचुआ को कुर्ता नहीं है, इसका कैसे प्रबन्ध हो!" रमा के वैध्यव्य-जीवन के यही सब विचारणीय विषय थे। स्वयं उसकी साड़ा चिथड़ी-चिथड़ी हो गई थी। कुर्ती का भी यही हाल था। तेल के बिना उसके वे लम्बे-लम्बे केश जिसे उसने प्राणों से भी बढ़कर पाला था—लटदार हो-होकर टूट रहे थे, परन्तु रमा को इसकी चिन्ता कब थी! वह प्रातःकाल से उठकर जो गृहस्थी में उलझती, रात तक—जब तक कि लोग खा-पीकर सो नहीं जाते थे लगातार और अविश्रान्त जुटी रहती। अभागिन की रात भी,

संसार चलाने की ही चिन्ता में समाप्त होती। शायद कभी घड़ी, आध घड़ी रात रहते उसे एक झपकी-सी आ गई तो आ गई!

इस प्रकार, कमर में कुञ्जियों के झब्बे लटकाये सदा गिरस्थी की चिन्ता में जलते-जलाते रमा के कुल दो वर्ष और बीते। इधर बहन जी का षड्यन्त्र चालू था और इन दो वर्षों के भीतर उन्होंने अपना एक खासा दल तैयार कर लिया था। इस दल का प्रमुख नेता था, बहन जी की बहन का बेटा सुखराम, बहन जी का प्रियपात्र रामरीझन, जो उनका सगोत्र पड़ोसी और नाते का भाई था और जिसे किसी सुन्दरी के संग अपनी यारी की चर्चा सुनने का बड़ा गौरव तथा गर्व था, चाहे यह चर्चा झूठी हो या सच्ची, जीवन का यह कलुष, रामरीझन के लिये राज तिलक था।

दो वर्ष बाद, सुखराम तथा बहन जी के द्वारा सारे ग्राम में यह प्रचार बड़े जोरों से प्रारम्भ हो गया कि रामरीझन दूबे और बलराम की विमाता में अनुचित सम्बन्ध है। बात की बात में इस प्रचार ने ग्राम के घर घर में अपना आसन जमा लिया। जिसे देखो, वही रामरीझन और रमा की प्रेम-चर्चा का ठेका लिये बैठा था। रामरीझन ने भी इस प्रचार में योग दे, इसे और बलिष्ठ और विश्वस्त बना दिया। यह दुःसूचना बलराम के भी कानों में, उसके प्रेमी मित्र के द्वारा पहुँचाई गई। वह नौजवान अपने घर का यह महाकलंक सुनकर काँप गया और एक-दिन शाम को उसने एकान्त में रमा से सारा हाल सुनाकर पूछा—माँ! यह क्या बात है?

रमा के पैरों के नीचे से जैसे पृथ्वी खिसक गई। वह सोते से जगी। वह काफी जल चुकी थी—"हाय! मेरा दुर्भाग्य फिर यहाँ दो वर्ष के बाद पैदा हुआ!" वह बोली—भैया! मैं जानती हूँ यह प्रचार क्यों और किसके द्वारा हो रहा है। इसी प्रकार की अग्नि में मैं तथा मेरा परिवार वर्षों जल चुका है। भइया! तुम मेरे लड़के

हो, लाज की बात तुमसे मैं कितनी और क्या कहूँ! इस सारे दुर्नाम का मूल कारण तुम्हारा दिया हुआ यह कुञ्जियों का झब्बा है। मैं जानती थी, इसके चलते भविष्य में जो अनर्थ खड़े होंगे, परन्तु मैं सब की अवज्ञा कैसे करती! बहन जी को मेरा स्वामित्व जरा भी पसंद नहीं और वह मुझे इस घर से बिलकुल निकाल देने की चिन्ता में हैं। वे सुखराम और रामरीझन को मिलाकर मेरी नाम-हँसाई कराने में व्यस्त हैं। मैं इस बात को स्वयं तुमसे कहने वाली थी, मगर अभी मैं सोच ही रही थी। बलराम बोला—माँ, यदि अपना आचरण ठीक रहे तो संसार कुछ भी नहीं कर सकता। खैर, मैं यह नहीं कहता कि तुम्हारा आचरण ठीक नहीं परन्तु मैं कहता हूँ, रामरीझन काका हमारे घर न आवें तो अच्छा है।

रमा—तो उसे बुलाता ही कौन है? मैंने तो आज तक उसे उलट कर देखा तक भी नहीं। उसे बहन जी बुलाती हैं और जानें क्या, घण्टों उसे घर में बिठाये "फुस फुस" किया करती हैं। बहू से पूछो, कभी एक क्षण भी वह मेरे पास टिकता है।

बलराम—अच्छा, ठीक है। मैं जाता हूँ, बूआ को कह दूँगा, वे उन्हें न बुलाया करें।

१२

बलराम तथा रमा से जिस दिन बातें हुईं, उसके आठवें दिन, रात को प्रायः डेढ़ दो बजे बलराम के घर से "चोर-चोर!! मारो!! पकड़ो!" का बड़ा शोर मचा। गाँव के पचासों लट्ठधारी आ जुटे। लालटेनों की रोशनी में देखा गया, बहन जी रामरीझन की

कमर पकड़े बदहवास—सी "चोर–चोर !!" चिल्ला रही हैं। सदर दरवाजे का किवाड़ दोनों ओर खुला है। न कहीं सेंध लगी है, न बगली। आश्चर्य ! लोगों ने बहन जी से पूछा—क्यों ! यह बदमाश तुम्हारे घर में कैसे घुसा, तुमने इसे किस प्रकार पकड़ा ?

निर्लज्जा, मायाविनी बहन जी दुस्साहस से "गंगा-पीती" हुई बोलीं—क्या बताऊँ, मैं भैया लोग ! घर का छिद्र किससे कहूँ ? बबूल बोने पर आम कहाँ मिलते हैं, मिलते हैं काँटे ! बुद्धिमान और उद्यमी भाई के मरते ही इसे घर का स्वामित्व मिल गया। अब यह जी खोलकर "छक्के पंजे" खेलने लगी है। यह रमरीझना अभी इसी पापिष्ठा के घर से निकला जा रहा था। मैंने समझा यह चोर है, यदि मैं यह जानती यह रमरीझना, इसका प्रेमी है, तो क्यों हल्ला मचाती ? जैसे हमेशा देख-देख कर भी नहीं देखती थी, आज भी नहीं देखती। हाय रे, मेरा तो सर्वनाश हो गया ! हे दैव ! घर की ऐसी बेइज्जती ! हाय–हाय—!!"

बहन जी सर पीट-पीट कर रोने लगीं, मानों कुल-गौरव की सभी गठरी इन्हीं के सर लदी हो। अब बा० गिरधारी सिंह बोले—अरे यह खेल-तमाशा हम लोग सब जानते हैं। काहो दमड़ी राय, उस दिन रामरीझन दूबे खुद हमलोगों से का कहते रहे।

दमड़ी राय बोले—यही बात कहते रहे, आउर का। ई देवी लोग जौन ना कराय दें।

वह अनुभव-हीन नौजवान छोकड़ा बलराम, वहीं खड़ा खड़ा अपमान का वह विषम घूँट पी पीकर पागल हुआ जा रहा था। उसकी रगों में उष्ण-रक्त का दौरा बड़े वेग से हुआ। वह आवेश में रमा के घर में घुसा और उस हतभागिनी का केश पकड़, उसे बाहर घसीटता हुआ बोला—अब क्या, मुख में कालिख, कुल में कलंक, मेरे मूर्ख बाप और अपने अभागे पति की पगड़ी उछालकर

कोने में छिपी सती बनी बैठी हो ! बस, निकल मेरे घर से अभागिनी, इसी समय और इसी क्षण ! मुझे क्या मालूम था, कि तू सतियों के आवरण में लिपटी हुई एक भयानक नरकात्मा है, नहीं तो अब तक कभी का तुझे श्मशान पहुँचा आया होता ! तूने बड़ा गहरा धोखा दिया। अपमान के सांघातिक चोट ने उसे मूर्छित कर दिय। वह धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा। तत्क्षण बलराम की परम हितैषिणी बुआ जी बड़ी कठिनता से अपने हृदयानन्द को गोपन करती हुई उसकी ओर दौड़ी"—बचाओ मेरे लाल को। इस चाण्डालिन के पैर आते ही मेरे घर का सर्वनाश हो गया।

लोगों ने यथाशीघ्र बलराम को होश कराया। होश आते ही बलराम की दृष्टि फिर अपनी माँ—रमा पर पड़ी, जो सिकुड़ कर आँगन में कस्साइयों के गिरोह में घिरी, लाचार गौ की भाँति, नतमस्तक बैठी थी। उसे सारा संसार चक्रवत घूमता दीख रहा था। वह यह सोचकर व्यग्र, व्यथित तथा चेतना-शून्य हुई जा रही थी कि यह क्षणों में क्या हो गया ? यह बे-बादल का वज्र कहाँ से गिरा !" परन्तु वज्र तो गिर पड़ा था, अब निस्तार की चेष्टा व्यर्थ थी ! किन्तु फिर भी रमा समाजवालों के चरणों में अपनी अन्तिम आशा को विश्वास में परिणत कर करबद्ध उठ खड़ी हुई, परन्तु यह अभागी नारी अपने मुख से अभी एक अक्षर भी न निकाल पाई थी कि धर्मात्मा लोग चिल्ला पड़े—बस, बस, सावधान ! जो चूँ तक किया। रहने दो यह सब अपनी राक्षसी माया !

बलराम क्रुद्ध फणींद्र की तरह फुफकार मारते बोला—अभी नहीं गई मायाविनी ! इसे जल्द मेरे सामने से हटाओ, नहीं तो मैं न बचूँगा। आह मेरी छाती फटी जा रही है। निकालो-निकालो इसे जल्दी से। और रमा धक्के देकर बाहर कर दी गई।

उस जनशून्य निस्तब्ध रजनी में अभागिनी रमा ने देखा, ऊपर

निस्सीम नभोमण्डल और नीचे धरित्री के सुविशाल वक्ष पर अंकित अनन्त पथ, जो रमा के ही भाग्य-रेखा की नाईं टेढ़े-मेढ़े दुर्गम्य दृष्टिगोचर होते थे। "क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? मुझ लाञ्छिता, निर्वासिता, कलंकिनी नारी को अब कहाँ स्थान मिलेगा? कौन मुझे शरण देगा।" गाँव के बाहर एक घनी अम्राई में खड़ी-खड़ी रमा सोच रही थी। परन्तु रमा ग्राम-निष्कासन के समय जैसी अशान्त हुई थी, अब वह वैसी अशान्त न थी। उसके हृदय में एक अदृष्ट शक्ति संचित हो रही थी। आज वह पराये की आस छोड़ चुकी थी और अपना मार्ग—अपना कर्तव्य स्वयं निश्चित कर रही थी। वह अपने विगत काल की सभी व्यथाओं, चिन्ताओं को स्मरण कर नये सिरे से सोचने लगी—"अब मैं कहाँ जाऊँ! बस संसार में माता, पिता, भाई, धाम, धन, ऐश्वर्य सब रहते हुए भी आज मैं अनाथिनी, निराश्रिता हूँ। क्यों? कारण! मैं इस संसार के पतित प्राणियों की जघन्य मनोभिलाषा पूर्ण न कर सकी। वाह रे संसार! वाह रे समाज! क्या अन्धेर है? धर्म करते धक्का खायी। पर नहीं, रमा अब अपने को संसार की दया, समाज की कृपा पर न छोड़ेगी। समाज-आज्ञा की ही चक्की में तो रमा पिसी। अब रमा को समाज की छाया की आवश्यकता नहीं। अब तो रमा अपनी छाया आप बनायेगी और उसी के तले रहेगी। स्वार्थी संसार! तुम्हारे नग्न रूप को सहस्र नमस्कार।"

रमा तेजी के साथ उस घनी अमराई से निकली और एक ओर निर्भीकता-पूर्वक चल पड़ी। अब उसमें एक नवीन शक्ति थी, नव शौर्य था और था दृढ़ स्वावलम्बन।

१३

पटना नगर बिहार का एक विख्यात शहर है, जहाँ प्रबल धर्मोद्धारक त्यागी महापुरुष श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज के व्याख्यान अनेकों बार हो चुके हैं। और उस परम वंदनीय देवत्मा की पद—धूलि से इस पुरी के पथ कईबार धन्य हो चुके हैं। रमा भगी-भगी इसी शहर में आई। उसने पिता माता के घर जाना भी उचित नहीं समझा। उसने शहर के मध्य में एक जगह देखा, एक सुविशाल सुन्दर भवन के लोह-फाटक पर बड़े-अक्षरों में लिखा है—

"विधवाश्रम--पटना"

रमा बेधड़क, अपने घर की नाईं उस फाटक के भीतर घुस गई। उसने देखा, विशाल भवन में एक बूढे सज्जन आपाद मस्तक खादी धारण किये, आँगन के छोटे से पुष्पोद्यान में घूम रहे हैं और उनके पीछे एक भद्र युवक। इन युगल शान्त, शिष्ट मूर्तियों को देख, रमा को शान्ति मिली। उसे ऐसा भास हुआ मानो वह कितने दिनों के पश्चात् अपने सच्चे शुभचिन्तकों के पास पहुँची है और अब उसका कोई कुछ नहीं कर सकता। दोनों ही सज्जनों की दृष्टि रमा पर पड़ी। वे रमा के निकट आए। महोदय ने नम्रता-पूर्वक कहा—बहन जी! मालूम होता है आप हृदयहीन हिन्दू जाति की समाज-पीड़िता कोई गृहदेवी हैं। यदि हम लोगों के योग्य कोई सेवा हो तो आप निस्संकोच आज्ञा करें।

इतनी नम्र और मधुस्मित शब्दावलि पुरुषों के मुख से सुनकर रमा के नेत्रों से आँसुओं की धारा बह चली। रमा ने अवरुद्ध कंठ

से उत्तर दिया—जी हाँ, श्रीमान का अनुमान अक्षरशः सत्य है। मैं हिन्दूजाति की ही समाज-ताड़िता एक अभागी औरत हूँ। तत्परता से निजत्व प्रदर्शित करते हुए युवा सज्जन बोल उठे—शायद आप तो पढ़ी-लिखी देवी ज्ञात होती हैं, आप ने सदर गेट पर लटके साईनबोर्ड को—!"

"जी हाँ, मैंने पढ़ा है"—रामा बीच ही में बोल उठी—"और उसे पढ़कर ही यहाँ तक आने का साहस किया है। यह विधवा-आश्रम है न!"

"जी हाँ, क्या आप यहाँ रहना चाहती हैं?"

"यदि आप इतना उपकार करें तो आपकी बड़ी कृपा होगी।"

इस बार बूढ़े सज्जन बोले—इसमें हमारे उपकार की क्या बात है माँ! यह तो तुम्हारी ही चीज है और तुम्हारी ही जैसी समाज-पीड़िता के परिशुद्ध जीवन-यापन के हेतु इसका निर्माण हुआ है। जितने दिन चाहो, सहर्ष निवास करो। हम तो तुम्हारे सेवकमात्र हैं। हाँ, आश्रम के नियमानुसार सर्वप्रथम आपको अपना बयान देना होगा।

"कोई आपत्ति नहीं।"

"तो आइये आफिस में।" युवक महाशय बोले।

तीनों ही आफिस में उपस्थित हुए। एक सुन्दर चौकोर टेबुल पर लिखने पढ़ने के सामान बड़े सुन्दर ढङ्ग से सजाए रखे थे। टेबुल के आस-पास बेत से बीनी ३।४ कुर्सियाँ पड़ी थीं। प्रवेश-द्वार के ठीक सामनेवाली दीवार पर उस दिवंगत महर्षि का योगासनारूढ़ एक बड़ा ही भव्य, भाव-पूर्ण तैलचित्र लटक रहा था। मुखड़े पर बड़ी ही अखंड दृढ़ता, प्रचण्ड तेजस्विता, मधुर शान्ति, हृदय-स्पर्शी वात्सल्य टपक रहा था। महर्षि के चित्र पर दृष्टि पड़ते ही रमा भाव-विह्वल हो बोली—

परन्तु अब—! अब तो श्रीमान मैनेजर साहेब विना नागा आश्रम में आने लगे। अपने को सजाने में वह कोई त्रुटि नहीं रखते थे। ब्लेजर का इङ्गलिश कट कोट पतलून, एक लाल ट्वील की कमीज, गले में कीमती टाई, कलाई पर सोने की घड़ी, उङ्गलियों में सोने की नगदार अंगुठियाँ, लम्बी-लम्बी अधपकी जुल्फों में बीच से कढ़ी हुई माँग, खिजाब से पेण्टेड फ्रेन्चकट मूछ, पैरों में बुलडाग फूल शू, सारा शरीर सेन्ट, लेवेण्डर से तर यानी निराली फबन होती आपकी! यद्यपि आपकी अवस्था पचास और पाँच पचपन से एक सेकेण्ड भी कम न थी, तथापि आप अपने को छैला-सा सजाये रहते और अपने को २५ साल का छोकड़ा समझते। आपके मुखड़े पर भद्रता के स्थान पर छिछोरपन था।

नियमानुसार मैनेजर साहब हर विभागों का निरीक्षण कर सकते थे। वे विधवाओं के भी "वार्ड" देख सकते थे। उसमें उचित परिवर्तन तथा सुधार भी कर सकते थे। अतः वे विधवाओं के कमरों में भी जाते और उनका अधिकांश समय रमा के ही कमरे में खर्च होता। रमा को एक साधारण-सी गाढ़ी धोती में लिपटी देखकर उनका छैला दिल आप ही आप बोल उठता—"आह कैसी सोने की पुतली गूदड़ों में लिपटी है।" उनके साथ रहतीं परम सुदक्षा, संसार की सकल-कला-विज्ञा अध्यक्षा जी महोदया। वे उनकी ओर दृष्टि निक्षेप कर, रमा को सुनाकर बड़ी ही सहानुभूतिपूर्ण वाणी में कहते—अध्यक्षा जी महोदया! यद्यपि ये सुकुमारियाँ समाज तथा अपने गृह के विषम विधान से प्रताड़ित हो आपके आश्रम में शुद्ध एवम् शान्त जीवन यापन करने आती हैं, तथापि क्या इनकी अवस्थोचित मानवी-प्रकृति भी बदली जाती है? अथवा आप लोग एकाएक सब को ठोक पीट कर तपस्विनी ही बना देती हैं? देखिये इस सुन्दरी सुकुमारी ललना को जिसके अभी खेलने खाने के दिन हैं—आपलोगों

ने कैसी मोटी रद्दी धोती से लपेट रखा है !! शिव शिव !! मैनेजर साहेब की ऐसी सहानुभूति से ओत-प्रोत वाणी सुन, अध्यक्षा जी एक मर्म स्पर्शी कुटिल हँसी हँस देतीं।

उस विलासान्ध वकील को यह मालूम न था, साधना व संयम के पथ इससे भी कहीं अधिक तीक्ष्ण एवम् कंटकाकीर्ण होते हैं। जिसने अपने जीवन की सारी मृग-तृष्णाओं का मूलोच्छेदन कर अपने को परमात्म-चिन्तन में उत्सर्ग कर देने का निश्चय कर रखा हो, उसके लिये तो काँटे भी मखमल के सदृश हैं, आरण्य भी अमरावती के तुल्य है। गाढ़े का वस्त्र तो उन कष्टों के सम्मुख, एक अति तुच्छ वस्तु है।

मैनेजर साहेब फिर अध्यक्षा जी से कहते—खैर यदि वैसी धोती का प्रबन्ध करने में आश्रम असमर्थ हो तो आप मेरे यहाँ से इनके लिये धोतियाँ मँगवा लिया करें, परन्तु कृपाकर अब इन्हें ऐसी गंदी धोतियाँ न पहनाया करें।

अध्यक्षा जी कहतीं—बहुत अच्छा !

पर रमा शीघ्र बोल पड़ती—नहीं मुझे महीन और फैंसी धोतियाँ नहीं चाहिये। महाशय जी, आपकी कृपा मात्र ही बहुत है।

१४

आश्रम में मैनेजर महोदय का आवागमन इसी प्रकार क्रमशः २।३ मास तक चलता रहा, परन्तु उनकी कामेच्छा की पूर्ति न हो सकी। अब उन्होंने अध्यक्षाजी को अपने वश में किया और इन्हीं के द्वारा यह 'पुण्य कर्म' करा लेना चाहा। और पुण्य के पर्दे में पाप का पोषण होने लगा !!

एक दिन सन्ध्या को श्रीमती अध्यक्षाजी आश्रम-निवासिनी ४।५ लड़कियों के साथ रमा को भी घोड़ागाड़ी पर चढ़ा मैनेजर के निवास-स्थान पर लिवा गईं। यहाँ पहुँचकर रमा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई—"अरे, मैं कहाँ आ गई! इस चुड़ैल अध्यक्षा ने तो मुझसे कहा था कि आज मेरे घर उत्सव है, आश्रम की ओर वनिताएँ जा रही हैं, तुम भी चलो। आज भोजन भी वहीं करना होगा। पर यह कैसा धोखा? कैसा अनर्थ। यह डायन मुझे इस पापी के घर क्यों घसीट लाई? हे भगवान! अब तो लाज तुम्हारे ही हाथ है।"

मैनेजर साहब विधवाओं के संग रमा को देख बड़े प्रसन्न हो उठे। बड़े आदर से उन्हें कुर्सी पर बिठाते हुए बोले—मेरा अहोभाग्य जो आपलोगों ने अपनी चरणधूलि से मेरी कुटिया को सम्मानित किया। आज मेरे घर आपलोगों को अपनी जूठन भी गिरानी होगी। आप विराजें, मैं अभी भीतर से आया।"

मैनेजर साहेब भीतर गये और कुछ क्षणों के बाद लौट कर बोले—आप लोग भीतर जाकर कुछ जलपान कर लें, फिर कुछ बातें होंगी।

अध्यक्षा जी सबों को लिये भीतर गईं और विधवाओं का भोजन होने लगा। सब तो खुशी-खुशी खा रहीं थीं, पर रमा के हाथ से जैसे ग्रास उठता ही न था। वह किसी आसन्न विपत्ति की अज्ञात आशंका से रह-रह कर काँप उठती थी। अध्यक्षा जी उसके निकट पहुँची और बड़े प्यार से उसे पुचकारती हुई बोलीं—क्यों बेटी, तुम तो खाती ही नहीं। अरे, थोड़ा भी तो खाओ।

रमा बोली—माँजी, खाने की मेरी जरा भी इच्छा नहीं है। आज शाम से ही कुछ भारीपन मालूम हो रहा है। मैं तो आप की आज्ञा-वश चली आई। कृपाकर मुझे शीघ्र आश्रम में वापिस ले चलें।

अध्यक्षा जरा और प्रेम-पगी वाणी में बोली—हाँ, हाँ, आश्रम

तो शीघ्र चलेंगे ही, तुम घबराती क्यों हो? यह भी अपना ही घर है, डरने की आवश्यकता नहीं। हमारे मैनेजर साहेब एकही सत्पुरुष तथा विधवाओं के हितकारी हैं। खाने का जी न हो तो, न खाओ। अपनी इन सहेलियों को तो खा लेने दो, सब साथ चलेंगे। आओ, तब तक हम लोग मैनेजर साहेब का मकान देख लेंवे।

अध्यक्षा रमा को मैनेजर का मकान दिखलाने लगी। आश्चर्य तो यह कि उस सुविशाल भवन में मैनेजर का एक भी संबंधी न था। रमा के पूछने पर अध्यक्षा जी ने बताया "हमारे मैनेजर आजन्म ब्रह्मचारी हैं। विवाह के लिये कितनी प्रार्थनायें आने पर भी सेवा-व्रती मैनेजर साहब ने सबों की प्रार्थनायें अस्वीकृत कर दीं।"

पर अध्यक्षा की इस सफाई पर रमा को रंचमात्र भी विश्वास न हुआ। वह अनमनी-सी मैनेजर के मकान में घूमने लगी। वह सोच रही थी "कब इस पाप-पुरी से बाहर निकलूँ।" मिनट-मिनट की देर उसे युग की भाँति खल रही थी। सहसा अध्यक्षा जी बोल पड़ीं—बेटी दस मिनट यहीं बैठो, मैं अभी निबट्कर आती हूँ।

रमा के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही अध्यक्षा जी झट पार्श्ववर्ती प्रकोष्ठ में घुस गईं। पर छाँछ से जली रमा को यह ताड़ते देर न लगी, मेरे संग धोखा हुआ है? वह सतर्क होकर वहीं बैठ गई परन्तु वह कितनी देर वहाँ बैठे! उसे एक अति क्षीण आशा थी, अध्यक्षा जी लौटेंगी। किन्तु बैठे २ जब आधे घंटे से भी अधिक हो गये, तो वह ऊबकर वहाँ से उठी और जिस राह आई थी, उसी राह से मैनेजर सा० के बाहर बैठक में पहुँची। वहाँ मैनेजर चुप बैठे, मानो कोई गहरी चाल सोच रहे थे। अपने कमरे में रमा को एकाकी उपस्थित देख, जैसे वे सावधान-से हो गये। पहले तो उन्होंने यह सोचा, स्यात् अध्यक्षा जी महोदया ने सब वातावरण अनुकूल कर

इसे अकेली भेजा होगा। फिर भी वे अपने अनुमान को परखने की इच्छा से बड़ी ही स्नेहासिक्त वाणी में बोले— आइये, विराजिए।

रमा जरा विरक्त-सी बोली—अब बैठने का समय नहीं है। मेरी सहेलियाँ...

मैनेजर सनम्र बोला—वे तो कब की जा चुकी हैं। आप मेरा गरीबखाना देख रही थीं, इसलिये उन्होंने बाधा देना उचित नहीं समझा, और चली गईं। खैर, क्या हुआ, यह भी आप का ही मकान है, जहाँ इच्छा हो सहर्ष आराम करें। प्रातःकाल सेवक स्वयं आपको आश्रम पहुँचा देगा। अब तो आश्रम का फाटक भी बंद हो गया होगा।

रमा तीव्र स्वर में बोली—आश्रम का फाटक बंद हो या खुला, मैं आश्रम जाऊँगी ही। यहाँ किसी प्रकार भी ठहर नहीं सकती।

मैनेजर बोला—सम्प्रति तो मेरे पास कोई आदमी नहीं है। शेष रही आप के अकेले आश्रम जाने की बात, तो इतनी रात गये मैं आपको अकेले आश्रम में जाने की सम्मति, आश्रम का प्रधान-प्रबंधक होकर कदापि नहीं दे सकता। संभव है मार्ग में कुछ दुर्घटना हो जाय और मैं बदनाम हो जाऊँ।

रमा सदृढ़ बोली—चाहे रास्ते में जैसी भी दुर्घटना हो, किसी प्रकार की भी बदनामी हो, मगर मैं आश्रम जाऊँगी जरूर। यहाँ एक पल भी नहीं ठहर सकती। कृपाकर मुझे रोकें मत।

अब मैनेजर ने रंग बदला। उसने अब रोब से काम लेना चाहा। वह तनक सरोप हो, तीव्र तथा अधिकारयुक्त स्वर में बोला—आपके इस स्त्री सुलभ हठ को मैं कभी नहीं मान सकता। आज रात्रि पर्यन्त आपको यहाँ अवश्य ठहरना होगा।

रमा फिर भी हठता-पूर्वक बोली—नहीं, मैं जरूर आश्रम जाऊँगी। आप मुझे कदापि नहीं रोक सकते।

रमा दरवाजे की ओर बढ़ी, परन्तु शीघ्र ही मैनेजर ने उनका दाहिना हाथ थामकर, पीछे की ओर इस जोर से धक्का दिया कि वह पृथ्वी पर गिर पड़ी। सतीत्व-अपहरण के हेतु, रमा का इस प्रकार प्रताड़ित होने का यह दूसरा अवसर था। उसकी आत्मा रो रही थी—"भला सुखराम आदि तो मूर्ख, दुष्ट और पतित थे, परन्तु मैनेजर साहब वकील हैं, कानूनदाँ हैं, हठात् व्यभिचार करने के दण्ड की धाराओं से अवगत हैं, और एक स्त्री-संस्था के प्रमुख प्रबंधक तथा विधवाओं के संरक्षण के ठेकेदार हैं। ये इतने पतित! ऐसे कमीने!! क्या हिन्दू जाति की अभागिनी विधवाओं के विनाश के लिये, इस अधम जाति के शिक्षित अशिक्षित दोनों हों, जैसे सर्पराज वैसे नागराज हैं? यह नारकी समाज "पुण्य के पर्दे" में भी अपनी का वैसा ही नग्न नर्तन करता है! हे भगवान! क्या तुम्हारा सुदर्शन अधमता चक्र कुंद हो गया है।

रमा शीघ्र ही उठकर खड़ी हो गई। क्रुद्ध सिंहिनी की भाँति गरजकर बोली—सावधान मैनेजर साहब! अब जो आपने फिर ऐसी निर्लज्जता की तो समझ लीजिये, आप की खैर नहीं। मुझे आप उन छिछोरी और दब्बू औरतों में समझने की भूल न कीजियेगा, जिन्हें आपने सब्जबाग दिखलाकर पथभ्रष्ट किया है।

मैनेजर रमा की अवहेलना करता हुआ उसकी ओर लपका, किन्तु रमा ने उस नरपिचाश की छाती में इस जोर से तानकर दो घूसे लगाये कि वह एक "आह!" के साथ वहीं गिर पड़ा। रमा झटपट किवाड़ खोल, भाग निकली। मैनेजर हतबुद्धि-सा कुछ काल तक पृथ्वी पर पड़ा रहा। सहसा वह उठ खड़ा हुआ और झट आश्रम की ओर भागा।

रमा उस समय तक मुख्य द्वार तक पहुँच चुकी थी। उसने देखा वस्तुतः रात्रि के व्यतिरेक से आश्रम का फाटक बंद हो गया है।

वह आश्रम के बूढ़े दरवान से फाटक खोलने का अनुनय-विनय करने लगी, किन्तु वह पतित प्रहरी पतन के वातावरणों में रहते-रहते इतना नीच, खल तथा निर्लज्ज हो गया था कि वह अपनी पौत्री-तुल्य रमा से अश्लील उपहास करने लगा। रमा एक बार चारों ओर घूम आई, पर प्राचीर पार करने की उसे कहीं भी सुविधा न मिली। वह विवश हो पुनः उस पापी दरवान के पास आकर बोली—सचमुच तुम फाटक न खोलोगे?

वह अधम दरवान कुटिल विषाक्त हास्य करता हुआ बोला—खोलूँगा क्यों नहीं लाडो! पर यह तो बताओ अपने किस अभागे रसिया को तड़पाकर इतनी शीघ्र भाग आयी हो।

"—हत्यारा, राक्षस, ले अपनी निर्लज्जता का पुरस्कार!"

रमा ने एक ईंट उठाकर दरवान के सिर पर बड़े वेग से दे मारा। वह वहीं लोट गया। पिचकारी जैसी रक्त की धारा उसके सिर से बह निकली। क्रोधावेश में उन्मत्त गिरता-पड़ता वह मुख्य फाटक पर पहुँचा। उसने देखा, रमा संज्ञाहीन-सी खड़ी-खड़ी दरवान को देख रही है। मैनेजर रमा पर क्रुद्ध था ही, यह दृश्य देख वह और उबल उठा। वह रमा के दोनों हाथ बल-पूर्वक पकड़ उसे झकझोरता हुआ दाँत पीसकर बोला—चाण्डालिनी तूने यह क्या किया?

फिर मैनेजर आश्रम के फाटक को इस जोर से धक्का मार-मार कर हिलाने लगा मानों वह इसे तोड़ ही डालेगा। खड़ी-खड़ी रमा पछता रही थी! "ओफ" आवेश में मैंने कैसा अनर्थ कर डाला! वस्तुस्थिति का ज्ञान उसे अब हुआ। पर अब क्या, तीर तो तुणीर से निकल चुका था।

मैनेजर की चिल्लाहट सुनकर आश्रम के अन्यान्य सेवक दौड़ पड़े। उन्हें देखते ही मैनेजर मस्तिष्क पर बल लाते हुए बोला—तुम लोग किसी काम के आदमी नहीं। व्यर्थ बैठे-बैठे आश्रम का

आँटा गीला करते हो ! इतनी शैतान औरतों को घर में पाल कर, आप बेफिक्री से खर्राटे भरा करते हो। देखो, इस ढीठ छोकरी ने अनर्थ कर डाला है। जानें कैसे, यह तुम लोगों की आँखों में धूल झोंककर आश्रम से भाग जाना चाहती थी। इस बूढ़े विश्वासपात्र दरवान का सर, केवल इस अपराध पर इस शैतान ने फोड़ दिया कि दरवान ने विना इससे कुछ पूछताछ किये फाटक क्यों खोल दिया ?

सेवक, दरवान की ओर दौड़े। उसके शिर से प्रचुर रक्तस्राव हो चुका था। चोट गहरी होने के कारण वह संज्ञा-शून्य-सा हो रहा था। शीघ्र ही गाड़ी मँगवाई गई और वह अस्पताल भेजा गया। अब मैनेजर ने रमा को लेकर आश्रम में प्रवेश किया। दो सेवक प्रधान जी के पास भेजे गये, और रमा आश्रम के कर्मचारियों से घिरी बंदिनी की भाँति कार्यालय में खड़ी की गई। मैनेजर मन ही मन आनन्द-विभोर हो रहा था—"चिड़िया बड़े मौके से फँसी !" वह आश्रम के कर्मचारियों को बाहर जाने की आज्ञा दे रमा से बोला—अब क्या इच्छा है ? जेल में चक्की चलाने की या आनन्द से दिन बिताने की ?

रमा चुप थी। वह काष्ठवत हो रही थी। सारा संसार उसे घूमता परिभासित हो रहा था। यह सब क्षणों में क्या से क्या हो गया ! मैंने यह कैसी भयंकर भूल की ! मैं खूनी हूँ ! ओफ् ! मैंने एक बूढ़े का खून कर दिया। जेल—! शूली—! फाँसी—! मेरा धर्म—!! मेरा सतीत्व—!!! उफ्–उफ्–!!

रमा को चुप देख मैनेजर फिर बोला—भली प्रकार सोच लो, अब भी समय है, नहीं तो इन कोमल कलाइयों में शीघ्र ही लोह-शृंखला दिखलाई पड़ेगी। आखिर, तुम अपने घर से तो इन्हीं सब अपराधों के कारण निकाली गई होगी ? यह पातिव्रत का प्रपंच,

सतीत्व का स्वाँग प्रदर्शित कर, यंत्रणाएँ भोगना मूर्खता के सिवा कुछ नहीं।

रमा के हृदय में अन्तर्नाद हुआ। संरक्षिणी-समिति के प्रधानाधिकारी विद्वान प्रबंधक का उपदेश है कि पातिव्रत प्रपंच छोड़ो, यह मूर्खता है। ओह हिन्दू-जाति का इतना पतन! उसने अवरुद्ध कंठ से कहा—बाबू जी, श्रीमान ने मुझ अभागिनी के प्रति जैसी अपनी धारायें बना ली हैं, वह नितान्त भ्रमपूर्ण हैं। मैं स्त्री जाति के सर्वस्व की सौगन्ध खाकर कहती हूँ, अबतक मेरा सतीत्व अक्षुण्ण है। हाँ, मैं हिन्दू जाति की सत्यानाशी स्वार्थान्धता के कारण आप की शरण में आई हूँ, अब आपको अधिकार है मुझे जो भी कह दें या बना दें।

लाखों "केसों" के लड़ने वाले वकील साहेब रमा को रोती देख, मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। 'आसामी' रास्ते पर आ रहा है। क्रोध, करुणा में बदल रहा है और यह करुणा, शरणागति का प्रतीक है, अब बाजी अपनी ही है, अतः वकील सा० कुछ निजत्व प्रकट करते हुए स्नेहभरे स्वर में बोले—मैं तो कही रहा हूँ, सब अभी क्षणों में समाप्त हुआ जाता है, तुम अपना पागलपन छोड़ दो। यदि तुम चाहो तो पीछे मैं तुम्हारा पाणिग्रहण भी कर सकता हूँ—"जी नहीं।"—रमा सर हिलाती बोली—"ऐसा तो मैं प्राण जाने पर भी नहीं कर सकती।" अभागिनी—दुष्टे – समझ गया, तेरा भाग्य तुझे अशांति की ओर ले जाने पर कटिबद्ध है। वह तेरे दिल की बात कदापि न होने देगा।

इसी समय बूढ़े प्रधान जी ने वहाँ प्रवेश किया। उभयपक्ष के बयान लिये गये। अध्यक्षा जी तथा उन चार विधवाओं ने मैनेजर के घर जाने की बात साफ अस्वीकार कर दी। सारा दोष रमा के मत्थे मढ़ा गया। अपने ग्राम के पंचायत में भी इसी प्रकार वह दोषी

करार दी गई थी। विद्वानों की मंडली का ऐसा पक्षपात, ऐसा निर्णय देख वह सन्न हो रही। हठात् उसके मुँह से निकल पड़ा "क्या मेरे लिये संसार ही शत्रु हो गया है !"

रमा एक एकान्त कोठरी में एकाकी बंद कर दी गई। कल "कमेटी" के विचारानुसार कार्यवाही की जायगी, ऐसा विचार स्थिर कर सब अपने-अपने घर चले गये।

१५

"हे ईश्वर ! यह कैसा अत्याचार ? कैसा अन्याय है ? धर्मरक्षा के द्वार को इतनी निर्दयता पूर्वक क्यों बन्द किया जा रहा है ? यह मेरे किस जन्म के पाप का प्रायश्चित है ? दरबान की मृत्यु का उत्तरदायित्व मुझपर है परन्तु वह तो पापी था। उसने विशुद्ध नारीत्व पर कीचड़ उछालने का लज्जास्पद प्रयत्न किया था ! जेल ! उफ रोमांच हो आता है इस भयानक शब्द से ! वहाँ आदमी पशु बनाकर रखे जाते हैं। हा अभागे रघुबीर ! क्या अच्छा होता यदि उस दिन रेवती में मुझे डूब जाने दिया होता। इस समाजिक उत्पीड़नों से तो मृत्यु कहीं श्रेयस्कर है। तो क्या आत्म-हत्या कर लेना उचित होगा ? नहीं नहीं, शास्त्रों ने भी इसे महापाप कहा है। तो फिर क्या करूँ परमात्मन् ! अबलाओं की मानमर्यादा के अस्तित्व को तुम्हीं ने अक्षुण्ण रखा है। क्या मुझ अभागिनी पर दया न करोगे..."

मंदभागिनी रमा अभी इसी प्रकार की विचारधाराओं में उलझी हुई थी कि सहसा उस काल-कोठरी का द्वारा खुला और दो मानव-

मूर्तियाँ आ उपस्थित हुईं। रमा के मुख से शब्दोच्चारण के पूर्व ही शीघ्रतापूर्वक उसका मुख बन्द कर दिया गया। एक बोला—चुप रह बेटी! मैं प्रधान हूँ, दूसरा मेरा सेवक है। हम तुम्हारे उद्धार के लिये आये हैं, हमपर विश्वास करो, तुम्हारा कुछ अनिष्ट न होगा!

रमा को रोमांच हो आया, जैसे उसे भगवान मिले। वह हर्षातिरेक से बूढ़े प्रधान जी के चरणों से लिपट गई।

प्रधान जी रमा का हाथ पकड़े बड़ी सावधानी से अपने सेवक के साथ बाहर निकले। बाहर गाड़ी खड़ी थी,। तीनों झटपट उसपर सवार हुए और गाड़ी चल पड़ी। अब रमा की करुणा-मिश्रित हर्षधारा मुखरित हुई। वह प्रधान जी के चरणों पर मस्तक रखती हुई बोली—आप ही मेरे धर्म-पिता हैं और अबलाओं के भगवान हैं।

प्रधानजी रमा के मस्तक पर हाथ फेरते हुए बोले—बेटी, तेरी धर्म-भीरुता पर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तूने अबतक जो भी अपनी सतीत्व-रक्षा के लिये किया, अच्छा किया। मैं विवश हूँ बेटी! इन राक्षसों के मारे मैं तंग आ गया हूँ। कोई भी धर्मात्मा लड़की हमारे आश्रम में इन पतितों के चलते नहीं रह पाती। या तो वह इनके कुचक्रों में पड़कर भ्रष्ट हो जाती है या कहीं भाग जाती है। मैं इन राक्षसों की कुचेष्टाओं से भली-भाँति परिचित हूँ। मगर मैं अकेला क्या करूँ? हाँ, जहाँ तक मुझसे बन पड़ता है, तुझ जैसी सतियों की सेवा करता हूँ। अस्तु, अब काम की बात सुनो। इस समय हम स्टेशन चल रहे हैं। वहाँ से तुम्हें प्रयाग जाना होगा। प्रयाग के दारागंज मुहल्ले में मेरे एक मित्र पत्रिका के सम्पादक हैं। मैं उनके नाम पत्र लिखकर लिये आया हूँ, लिफाफे पर पूरा पता भी लिखा है। तुम उनसे प्रयाग में मिलना। वे बड़े ही सज्जन, सत्पुरुष व्यक्ति हैं। वे तुम्हारे भोजन तथा निवास का उत्तम प्रबंध करा देंगे। मैं भी तुम्हारे साथ चलता, परन्तु इन दुष्टों को कहीं मुझपर सन्देह न

हो जाय, इसलिये मेरा जाना उचित नहीं। तुम चिन्ता न करो, वहाँ मेरे मित्र महोदय तुम्हारा सब प्रबन्ध उत्तमता-पूर्वक कर देंगे।

रमा संकुचित-सी बोली—मगर, मैं विवाह न करूँगी! वे इसके लिये मुझे विवश न करें, पत्र में इसे भी उल्लेख कर दीजिए।

प्रधान जी नम्रतापूर्वक बोले—बेटी, तुम कौन हो, तुम्हारे क्या विचार और कैसा स्वभाव है, पत्र में मैंने इन सब का उल्लेख स्वयं कर दिया है। विश्वास रखो, तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य वे न करेंगे। उनको तुम मुझे ही समझो।

स्टेशन पहुँचकर, रमा पुनः प्रधान जी के चरणों पर गिर कर रोने लगी। अब प्रधान जी के भी नेत्र सूखे न रह सके। वे अपनी चादर की छोर से आँसू पोंछते हुये रमा को आशीर्वाद दे बोले—"बेटी, जा तेरा भगवान मंगल करेंगे। यह प्रयाग का टिकट है, इसे संभाल कर रख लो। "और अपने इस अकिञ्चन सेवक की यह सेवा स्वीकार करो"—प्रधानजी १०) रु० रमा के हाथ में देते हुए बोले—"मार्ग में आवश्यकता पड़ने पर इसे व्यय करना। जाओ, बैठो डब्बे में।"

इस देवात्मा की दयालुता देख, रमा का रोम-रोम कृतार्थ हो गया। वह आँसू पोंछते हुए रेल के डब्बे में जा बैठी।

गाड़ी अपने पूरे वेग से चल पड़ी और एक के बाद दूसरा स्टेशन पार करती हुई ८ बजे प्रातःकाल प्रयाग पहुँची। एक ठंढ़ी साँस लेकर रमा डब्बे से उतरी। रमा अपने जीवन में यही सर्वप्रथम इतने बड़े शहर में, वह भी अकेली आई थी। फिर भी वह घबड़ाई नहीं। नतमस्तक स्टेशन से बाहर हो गई। एक ताँगे वाले को बुलाकर पूछा—"तुम दारागंज के महिला-हितकारिणी अखबार का आफिस जानते हो?"

ताँगेवाले ने कहा—हाँ माँजी, चलो, मैं वहाँ पहुँचा दूँगा। मैं जानता हूँ।

रमा ताँगे पर बैठ गई। शीघ्र ही ताँगा म० हि० पत्रिका के आफिस के "गेट" पर जा लगा। रमा ने 'गेट' पर लटकते साईन बोर्ड को पढ़ा और ताँगेवाले का भाड़ा चुका निश्शंक कार्यालय में प्रवेश किया। उसने देखा, एक वयस्क सज्जन, आँखों पर चश्मा लगाये, ढेरों कागजों से उलझे बैठे हैं। रमा ने उन्हें जाते ही सादर प्रणाम किया और प्रधान जी का पत्र उनके हाथों में दे दिया।

पत्र-पढ़ने के पश्चात्, सम्पादक महोदय ने एक क्षण में रमा को आपादमस्तक देखा। फिर बड़े मीठे स्वर में कहा—आप पटना से आ रही हैं?

—जी हाँ, श्रीमान्। करबद्ध रमा बोली।

—प्रधान जी प्रसन्न तो हैं?

—जी हाँ!

—मैं क्या बताऊँ। आजकल प्रत्येक सार्वजनिक संस्थाओं में कुछ ऐसे अधिकारी लोग घुस बैठे हैं कि इनके चलते संस्थाएँ बदनाम हो रही हैं। लोग पैसे और प्रभाव के लोभ में "बड़े" और "पूँजी-पति" कहलाने वालों को संस्थाओं का एकछत्र अधिकार सौंप देते हैं, जिससे अनाचार और द्वेष की वृद्धि होती जाती है। खैर, आप चिन्ता न करें, प्रधान जी की आज्ञानुसार ही कार्य होगा। मगर आप क्षमा करें तो मैं अपनी ओर से एक निवेदन करूँ। मेरी समझ में, तो आपका पुनर्विवाह कर लेना आपके लिये हितकारी होगा। रमा विनीत स्वर में बोली—मुझपर दयाकर यदि आप ऐसी बातें न करें तो आपकी असीम कृपा होगी।

सम्पादक—अच्छा, अच्छा, कोई चिन्ता नहीं, यदि आपका विचार ऐसा है। आप इसे कुछ दूसरा न समझेंगी, यह मेरा एक

विचारमात्र था। मैं आपके सम्बन्ध में इसी मास के अंक में "आवश्यकता" छाप देता हूँ। जिसे आपकी आवश्यकता होगी और आपकी सारी शर्तें मंजूर होंगी, वह आपको ले जायेगा। मैं उसकी जाँच भलीभाँति कर लूँगा। तब तक आप मेरे मकान में रहें। क्यों मेरा यह प्रस्ताव आपको पसन्द है?

रमा—जी हाँ।

सम्पादक—अच्छी बात है। आप कृपाकर भीतर पधारें। वहाँ मेरी स्त्री और पुत्रवधुएँ हैं। वे आपकी आवश्यकताओं पर ध्यान रखेंगी।

रमा सम्पादक जी के अंतःपुर में चली गई।

१६

सम्पादक जी के गृहवास के पूरे पन्द्रह दिन बाद, एक दिन सम्पादक जी के साथ एक वृद्ध सज्जन रमा के निकट पधारे। सम्पादकजी ने इन बूढ़े महाशय को संकेतकर रमा से कहा—आप यहाँ के एक प्रतिष्ठित नागरिक, प्रख्यात वैद्यराज तथा आपकी ही जाति के कुलीन ब्राह्मण हैं। आप हमारी पत्रिका में छपी आपकी 'आवश्यकता' पढ़कर पधारे हैं। आपको आप ही सी एक सुयोग्य, सदाचारिणी विधवा की आवश्यकता है। आपके घर में आप, आपकी सहधर्मिणी और आपके एक पुत्र हैं। आपके सुपुत्र स्थानीय विद्यालय के बी० ए० के विद्यार्थी हैं, जो बड़े ही अध्ययनशील तथा सदाचारी युवक हैं। मैं इस परिवार की साधुता से भलीभाँति परिचित हूँ, अतः आपके यहाँ रहने में आपको किसी प्रकार का भय अथवा शङ्का न होनी चाहिये।

पं० जी को आप सरीखी एक उत्तम प्रकृति की विधवा-ब्राह्मणी की आवश्यकता इस कारण पड़ी कि आपकी वृद्धा गृहिणी सवेर कालेज-टाइम पर भोजन तैयार नहीं कर सकती हैं। बस! आपको केवल दोनों समय भोजन बना देना पड़ेगा।

रमा ने पंडितजी को एक बार आपाद-मस्तक बड़ी गम्भीर दृष्टि से देखा। सचमुच पं० जी के मुखमंडल से अकृत्रिम सरलता, सौजन्यता तथा शिष्टता प्रकट हो रही थी। बड़ी श्रद्धास्पद मूर्ति थी। रमा निश्शङ्क बोली—कोई चिन्ता नहीं, यदि आपको स्वयं पंडितजी की साधुता में विश्वास है। मुझे आपके घर जाने में कोई आपत्ति नहीं है। और काम, काम तो मैं सभी सहर्ष कर सकती हूँ। काम के लिये मुझे कोई चिन्ता नहीं है, चाहे जो करना पड़े। 'मासिक क्या देना होगा' सम्पादक जी की ओर जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से देखते हुए पंडित जी ने पूछा।

मगर सम्पादक जी को बोलने का अवसर न दे रमा स्वयं बोल उठी—मेरे धर्म और सतीत्व की रक्षा।

पंडितजी ऐसी प्रतिभा-पूर्ण त्यागी नारी को श्रद्धायुक्त नेत्रों से स्थिर दृष्टि से देखते रह गये। उनके मुख से एक शब्द भी न निकला।

रमा बोली—अच्छा, आज तो मैं न चल सकूँगी। कल प्रातःकाल किसी को भेज देने का कष्ट करेंगे।

पंडित जी सहर्ष बोले—कोई चिन्ता नहीं, कल सवेरे मेरा पुत्र रघुनाथ गाड़ी लेकर आ जायगा। तैयार रहियेगा।

रमा—जी हाँ, मैं तैयार रहूँगी।

दूसरे दिन सवेरे एक सुन्दर गौर युवक, खादी का स्वच्छ परिधान धारण किये, लम्बी घुँघराली अलकों के बीच में माँग काढ़े, रमा के निकट पहुँचा और बड़े ही शिष्ट शब्दों में बोला—मैं पंडितजी का पुत्र हूँ। बाहर गाड़ी खड़ी है।

रमा सम्पादक जी तथा उनके परिवार के लोगों से मिल जुलकर रघुनाथ के साथ गाड़ी पर आ बैठी। शीघ्र ही वह पंडित जी के घर जा पहुँची। पंडित-दम्पति रमा सी एक सुयोग्य सुशीला सहचरी प्राप्तकर परम संतुष्ट हुए।

रमा को प्रातःकाल उठने का अभ्यास बचपन से ही था। वह बड़े सबेरे उठकर स्नानादि से निवृत्त हो ब्यालू बनाती। पश्चात् बड़ी तत्परता-पूर्वक नौ बजते-बजते भोजन तैयार कर देती। वह सदा अपने अंगीकृत कार्य-सम्पादन में सावधान तथा सतर्क रहती। कभी आलस्य को स्थान नहीं देती। बल्कि वह निर्धारित कार्य से भी अधिक कार्य करने लगी। पंडितजी की पूजा-सामग्री जुटा देती। ठाकुरजी का चौका लगा देती। पंडितानी का बिछावन लगा देती। रघुनाथ के कमरे की सफाई स्वयं खड़ी होकर करवाती। उसकी पुस्तकें, कलम, दावत, मेज, कुर्सी आदि सामग्रियों को स्वयं झाड़-पोंछकर उत्तमतापूर्वक सजाती। कभी रघुनाथ की मेज़ पर सुन्दर गुलदस्ते सजाकर रख देती और कमरे में अपने हाथ के लिखे कई 'मोटोज़' लटका देती।

रघुनाथ, रमा की इस चतुरता एवम् सुदक्षता पर बड़ा मुग्ध था। पंडित-दम्पति भी रमा की कार्य-कुशलता पर अत्यधिक सन्तुष्ट थे। अपनी कुल एक वर्ष की ही निष्कपट सेवा से रमा पंडित-परिवार की इतनी प्रिय, इतनी विश्वासपात्री हो गई कि पंडितानी ने गृहस्थी का सारा भार उसे सौंप, आप ने एक प्रकार गृह के झमेलों से सावकाश ही ले लिया। अब घर की मालकिन प्रकारान्तर से रमा ही थी। उसी की देख-रेख में गृह-सञ्चालन होने लगा। और इस प्रकार रमा ने दो वर्षों के बाद एक तीसरी दुनियाँ में प्रवेश किया, जहाँ प्यार था, न कटुता थी, राग-द्वेष-रहित जीवन था और सेवा तथा भक्ति केसम्मान करने वाले लोग थे। और आश्चर्य यह कि यह सब आदर-मान एक

पराये, अपरिचित के घर रमा को मिला। किन्तु इसमें आश्चर्य क्या! अच्छी नीयत, पवित्र व्यवहार तथा कर्तव्य-शील व्यक्ति किसके प्यारे नहीं होते।

परन्तु रमा यहाँ सांसारिक कर्मों में अति लिप्त हो, अपने से गाफिल हो गई। उसे "अपना" सोचने का समय ही नहीं मिलता। प्रातः ५ बजे से उठकर जो वह कार्य में संलग्न होती, ९ बजे रात तक अविराम गति से मशीन की नाईं लगी रहती। जानें क्यों, उसे रघुनाथ का कार्य करने में बड़ा आनन्द तथा उत्साह होने लगा। वह धीरे-धीरे रघुनाथ के निकटतम होने लगी। उसे दिन प्रतिदिन रघुनाथ के आराम व आनन्द की चिन्ता नये-नये प्रकार से विकल करने लगी। वह रोज, अपनी स्वेच्छा से नई-नई चीजें बना-बनाकर रघुनाथ को बड़े स्नेह से खिलाने-पिलाने लगी। इस प्रकार, चिरकाल से सञ्चित नारी-हृदय का निष्कपट, अविरल प्यार, रघुनाथ पर अजस्र-धारा हो बरसने लगा।

"मैं कहाँ जा रही हूँ, किस भयंकर दावानल से क्रीड़ा करने का संकल्प कर रही हूँ।" इसका ध्यान रंचमात्र भी रमा को न रहा। वह संसार में रहकर भी कमलपत्रवत संसार से पृथक न रह सकी, बल्कि वह संसार-प्रवाह में नाविक-विहीन नैया की नाईं डोलने लगी। जीवन-प्रगति अब उसके हाथों के वश की न रही। वह वास्तव में उस काष्ठ-पुत्तलिका के सदृश हो गई, जो नटों के संकेतों पर ताल तोड़ा करती हैं। वह रघुनाथ की सेवाएँ, उसकी सुखोपलब्धि की सारी क्रियाएँ अविराम करती जाती थी। ज्यों ज्यों वह रघुनाथ की सेवाओं की ओर अग्रसर होती गई, त्यों-त्यों उसका कोमल भावुक नारी-हृदय, पानी के प्रवाह के सदृश रघुनाथ की ओर अग्रसर होता गया। वह संध्या को रघुनाथ के आगमन की प्रतीक्षा में आँखें बिछाये बैठी रहती और उसके आने में तनक भी देर होती तो वह

आतुर हो उठती। बार-बार पंडितानी से पूछती—माँ जी, अभीतक बाबू नहीं आये, उन्हें कुछ हुआ तो नहीं!

पंडितानी अपने इकलौते पुत्र के लिये निज कुटुम्बवत चिन्तित होते देख, रमा पर परम पुलकित हो जातीं और वे उसकी पीठ पर प्रेमपूर्वक मीठा प्रहार करती हुई बोलतीं—अरी पगली, उसे होगा क्या! कहीं मित्रों में उलझ गया होगा। अब आता ही होगा।

"आवेंगे तो अवश्य ही—" रमा कुछ संकुचित हो बोलती—"पर ब्यालू जो ठंढा हो रहा है माँजी।"

"—तो उसके लिये कड़ाही चढ़ाये बैठी रह—" प्रेम-मिश्रित स्वर में पंडितानी बोलतीं—"सचमुच तू निरी पगली है। सारे दिन रघुनाथ-रघुनाथ की रट लगाये रहती है। अरे, इतना तो सब मर-मर के रघुनाथ के लिये करती ही है, अब और कितना करना चाहती है, मेरी पगली बेटी!"

इतने में रघुनाथ आ जाता। रमा सिहर-सी उठती। जाने किस अलक्ष आनन्द-उद्वेग से उसके रोम-रोम पुलकित हो उठते। हृदय स्पंदित होने लगता। रघुनाथ से उसकी माँ कहतीं—तू रास्ते में देर किये देता है और यह तेरे लिये यहाँ कलपा करती है। यदि यह तेरी भगिनी या बाहर-भीतर जाने-आने वाली होती तो, दिन में बारह बार यह तुझे देखने तेरे कालेज में जाती।

माँ की बातें रघुनाथ बड़ी प्रसन्नता-पूर्वक सुनता और बड़ी ही स्नेहातिसिक्त तथा कृतज्ञ नेत्रों से, स्मित हास्य करता हुआ रमा को देख शीश झुका लेता, मानो उसका रोम-रोम कृत्य-कृत्य हो गया हो। फिर वह ब्यालू करने बैठता और एक-एक वस्तु की सौ-सौ मुख बड़ाइयाँ करता। वह कहता—"माँ! जानें यह देव-हृदया हमारे लोगों के भाग्य से किस प्रकार भूलती-भटकती प्रयाग चली आई। ईश्वर ने हमारे किसी पूर्व पुण्य के प्रसाद से हमें इनका दर्शन करा दिया।

सच कहता हूँ माँ ऐसी देव-दुर्लभ आदर्श नारी इस घोर कलियुग में दुष्प्राप्य है।"—फिर वह सिक्त गले से कहता—"मेरे कमरे को देखोगी तो कहोगी वह राजाओं के प्रकोष्ठ की तरह सज गया है। करीने से कार्पेट बिछा हुआ है, ताजी कलियों के गुलदस्ते सजे हैं। दीवार तो तस्वीरों और "आदर्श—वाक्यों" से दिखती ही नहीं। टेबुल, कुर्सी, कलमदान, दावात सब चमचम चमक रहे हैं। मैं पूछता हूँ माँ, भला इन्हें कौन कहता है, यों दिन भर हाय-हाय किया करें! अकारण कष्ट उठावें। मेरा जहाँ तक विश्वास है ये मध्यान्ह में भी आराम नहीं करती?

हर्ष पर हर्ष लादती, वात्सल्य-विह्वल कंठ से माँ कहती—ठीक कहते हो बेटा! दिनभर यह कार्य-व्यस्त रहती है। तुम्हारे टेबुल के लिये जैसा सुन्दर "मेज-पोश" यह तैयार कर रही है उसे देखोगे तो इसके परिश्रम और कला पर दाँतों उँगली काटोगे। अभी कहती थी "बाबू को शायद कुर्त्ता नहीं है, एक ही कुर्त्ता ३।४ दिन तक पहना करते हैं।" जान पड़ता है बेटा, यह अभागिनी किसी बड़े घर की लक्ष्मी थी, पर दुर्दैव ने इसके संग बड़ा बुरा चौसर खेला! आह! यह रामायण पढ़ती है तो जी भर आता है। सीता-वनवास क्या पढ़ती है, कलेजा काढ़ लेती है, ऐसी मधुर इसकी वाणी है।

रघुनाथ माता का समर्थन करता—हाँ माँ, मनुष्य को उसके स्वभाव और व्यक्तित्व से परखा जाता है। एक विधवा और सो भी गृह-ग्राम-निर्वासिता। इनकी जैसी गुण, स्वभाव वाली कहाँ मिलती हैं? ये तो देवी हैं, देवी।

अपने प्रति रघुनाथ का ऐसा पवित्रोद्गार श्रवणकर रमा का रोम-रोम खिल जाता और उसका हृदय अनायास रघुनाथ की ओर दौड़ पड़ता। अनुराग से भर जाता।

हठात् एक दिन रघुनाथ एकही बजे कालेज से लौट आया।

"उदर में भयानक पीड़ा है !" कहते हुए खाट पर लेट गया। उसके पिता ने उसकी नाड़ी देखी और चिन्तापूर्ण स्वर में बोले—यह भयंकर महामारी के चपेट में आ गया है। प्रेमवश, अन्धों की तरह ठूँस-ठूँसकर खाने और खिलाने का ही कुपरिणाम है यह।

वैद्यजी का यह "रिमार्क" सीधे रमा पर था। आज उसके डेढ़ दो वर्ष के अपने लम्बे भृत्य-जीवन में सर्वप्रथम उपालम्भ श्रवण का यह पहला अवसर था। उसे अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ। दवा दी गई, पर लाभ के स्थान पर हानि ही हुई। बीमारी बिगड़ी और बड़े भयंकर रूप में। रघुनाथ को विशूचिका ने घर दवाया। २२ वर्ष का फूल-सा नौजवान, कुल बारह घंटे की बीमारी में, लू-लगी लता सी मुर्झा गया। नेत्र-गड्ढों में धँस गये। होठ काले पड़ गये। निर्बलता इतनी बढ़ गई कि बिछावन से उठकर पखाना, पेशाब तक करने की शक्ति न रही। रघुनाथ केवल "आह ! मरा ! मरा !" कहते करवटें बदल रहा था। पंडितानी पुत्र की ऐसी शोचनीय दशा देख विक्षिप्त सी हो गईं। पंडितजी हतज्ञान हो गये। पर रमा ने अपना धैर्य नहीं छोड़ा। वह सारी रात लज्जा और घृणा को तिलाञ्जली देकर रघुनाथ की सेवा में लगी रही। उसका बदबूदार वमन व मल-मूत्र साफ करती रही।

सवेरा हुआ, परन्तु रघुनाथ की अवस्था न सुधरी। निर्बलतावश उसके हाथ-पाँव की उङ्गलियाँ ऐंटने लगीं। अब रमा भी घबराई, पर वह पंडित-दम्पति की भाँति अधीर हो कर्त्तव्य-विमुख न हुई। उसने नौकर को शहर से कोई अच्छा डाक्टर जल्द से जल्द लाने की आज्ञा दी।

नौकर शीघ्र ही एक सुयोग्य डाक्टर को लेकर आ गया। रघुनाथ की नस काटकर पानी चढ़ाया गया। अब रघुनाथ की व्याकुलता में कुछ परिवर्तन हुआ। उसे पेशाब उतरा। उसकी सारी अस्वस्थता

दूर हुई और उसे निद्रा आ गयी। दिन के दस बजे का सोया-सोया रघुनाथ, रात्रि के ११ बजे उठा। अब उसे कुछ शान्ति तथा स्फूर्ति सी मालूम हो रही थी। उसने पानी माँगा। दो-तीन घूँट जल पीने के बाद उसने रमा को बड़े ही स्नेह, कृतज्ञ नेत्रों से देखा। पूछा—माँ और पिता जी ?

रमा—सभी लोग हैं। सोये हैं। इस समय आपका जी कैसा है ?

रघुनाथ—अच्छा है, बहुत अच्छा है। आशा है कल तक बिलकुल स्वस्थ हो जाऊँगा। आपने मुझे जीवन-दान दिया है। मैं इस ऋण से किस प्रकार उऋण हो सकूँगा, समझ में नहीं आता।

थकित लोचनों से रघुनाथ, रमा को देखता रहा। रमा सर झुकाये बैठी रही।

रमा बोली—इस समय आपको कोई कष्ट तो नहीं है न ?

"कष्ट—!"—आपके इस डेढ़ वर्ष की अवधि में कष्ट किस वस्तु का नाम है, यह तो मैंने जाना ही नहीं। हाँ, साम्प्रत सर में कुछ पीड़ा है। यदि सर में कोई ठंढा तेल—" कहते-कहते रघुनाथ एका-एक रुक गया। रमा को इस प्रकार आदेश देकर, उसे अपनी इस भयंकर भूल पर पश्चात्ताप हुआ।

"आप रुके क्यों ? सर में तेल लगा दूँ क्या ? आप मुझसे इतना संकोच क्यों करते हैं ? और वह भी इस बीमारी की हालत में। आपको सर में तेल लगवाना ही होगा।"

और रमा रघुनाथ के सर में ठंढा तेल लगाने लगी। उसके लाख विरोध करने पर भी रमा अपने कार्य में लिप्त हो गई।

रमा और रघुनाथ के प्रायः डेढ़ दो वर्ष के सम्मिलित सहवास की अवधि में यह पहला ही अवसर था, जब दोनों के शरीर का स्पर्श इस प्रकार और इस अवस्था में हुआ। रमणी के सुकोमल करों की सुश्रूषा उसे बड़ी प्रियकर प्रतीत हुई। जीवन में पहली बार

उसे एक अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ। उसकी सारी कोमल वृत्तियाँ झंकृत हो उठीं। इन्द्रिय-सुख की प्रेरणा से वह आत्म-विस्मृत हो गया। वह युवा था, भावुक था, चञ्चल था। वह अपने मनोविकारों पर नियंत्रण न कर सका। हठात् उसके दोनों हाथ उठे और रमा के कपोलों को स्पर्श करते हुए उसके कंधों पर स्थिर हो गये।

"उफ—! यह क्या ?" रमा चौंकी, काँपी, सिहरी, भयवश नहीं—भविष्य की दुश्चिन्ता के कारण नहीं, प्रत्युत यह सोचकर—यह जानकर कि ! इन हाथों में कैसी मादक विद्युत्-शक्ति सन्निहित है, जिसके स्पर्शमात्र से मेरी हृत्तंत्री पुलक से झंकृत हो उठी। रोम-रोम एक उन्मादकारी अवसाद से भर गया। ओह ! ये हाथ कितने सुन्दर, कितने मोहक हैं। मालूम होता है मस्तिष्क में शान्ति पहुँचने के कारण सो गये हैं। किन्तु, आह—! यदि इस समय ये जाग्रतावस्था में होते !

अभागी रमा यह सोच ही रही थी कि रघुनाथ का दाहिना हाथ फिर उसके शीश पर गया और उसकी धृष्ट उङ्गलियाँ रमा के सघन अलकों में प्रवेश कर बेलगाम घोड़े की तरह दौड़ने लगीं।

अब परिस्थिति स्पष्ट हो गई। जो कुछ भी, अर्थ या अनर्थ हो रहा है, दोनों के जानते, समझते और चेतनावस्था में। परन्तु दोनों कुछ ऐसा आत्म-विभोर हो गये कि किसी ने किसी का विरोध न किया। यह थी स्त्री-हृदय की दुर्बलता जो ठीक समय पर धोखा दे गई ! यह था यौवन का धोखा, जो बड़े भयंकर रूप में प्रकट हुआ। अब तक रमा अपने को संभालती, अपने विकारों पर जयलाभ करती चली आ रही थी। पर, अभागिनी अपनी अंधी तरुणावस्था पर कब तक नियंत्रण रखती। वह पराजित हुई ! यौवन विजयी हुआ !

उस नीरव निशीथ में, उस शांत और एकान्त छोटे गृह में यदि कोई प्राणी था, तो वह रघुनाथ और रमा। प्रकोष्ठ में अंडी के तेल

का दीपक मंद प्रकाश वितरण कर रहा था। रमा के सामनेवाली दीवार पर—ठीक उसके नेत्रों के सम्मुख "सीता की अग्नि परीक्षा" वाला चित्र टंगा था। सती-सामर्थ की अक्षय-कीर्ति स्वरूप सती-शक्ति की वह चिरस्मरणीय-विभूति के भाव, रमा बार-बार देखकर भी न समझ पाती थी। उसने उसी प्रकोष्ठ में स्वयं अपने हाथों से "कार्पेटों" पर लिख-लिख कर अनेक उपदेश-प्रद "आदर्श-वाक्य" लटकाए थे, किन्तु उन "आदर्श-वाक्यों" पर उसकी दृष्टि टिकती ही न थी, जैसे वह अन्धी—विवेकहीन हो गई हो।

कुछ कालोपरान्त रघुनाथ ने अवरुद्ध कण्ठ से पीने के लिये थोड़ा जल माँगा।

रमा का शरीर उस समय तक काँप रहा था। समीप ही रखे हुए जलपात्र से जल उड़ेलकर वह ज्योंही रघुनाथ को देने चली कि वह छूटकर जमीन पर गिर पड़ा। जलपात्र के गिरते ही झन-झनाहट की तीव्र आवाज कमरे में गूँज गयी। झन-झनाहट सुनकर दोनों काँप उठे, मानों उनके कुकर्म को देख कोई उन्हें पकड़ने आ रहा हो! भयवश दोनों मूक हो एक दूसरे को देखते रहे। दोनों की मौन-वाणी एक दूसरे से पूछ रही थी "यह क्या?"

रघुनाथ पुरुष था, उसने कुछ हिम्मत की। वह बोला—चिन्ता की कोई बात नहीं। दूसरे गिलास में दो और जरा रोशनी तेज कर दो।

जानें क्यों अब रघुनाथ रमा को "आप" न कहकर, अपने बराबरवालों-सा "तुम" कहने लगा। वह रमा को आप कहना चाह कर भी कह नहीं पाता था।

रमा दूसरे पात्र में जल तो ले आई, पर रोशनी तेज न कर सकी। रघुनाथ ने पूछा—क्यों, बत्ती क्यों नहीं उसकायी, क्या दीपक में तेल नहीं है? पर रमा मौन खड़ी रही।

"बोलती क्यों नहीं !"

रमा फिर भी चुप रही।

अब रघुनाथ की अधीरता सीमोल्लङ्घन कर गई। रघुनाथ पुरुष था और भूल भी उसी की ओर से हुई थी। उसे अपनी मूढ़ता पर बड़ा भय हुआ—"अरे मैंने कैसा पागलपन कर डाला। पिताजी ने इसे लाने के पहले डेढ़ घण्टे तक इसके स्वभाव, विचार तथा धर्म-प्रेम के संम्बन्ध में एक व्याख्यान ही मुझे सुना डाला था। यह कैसी सती स्त्री है ? ओफ् ! मैंने बड़ा बुरा किया ? यह अपने हृदय में अवश्य सोच रही होगी, किस पतित के घर आई जो मुझ जैसी अपनी निस्पृह सच्ची सेविका पर, ऐसा धर्म-विपरित आचरण कर अपने पितृ-कृत प्रतिज्ञा को पद-दलित कर दिया। ओह ? भूल, महान भूल, महानतम भूल ! गुरुतर अपराध—सोचते-सोचते रघुनाथ का मस्तिष्क चक्कर खाने लगा अब। वह अत्यन्त कातर हो रमा से बोला—न बोलोगी ! मैं शपथ-पूर्वक कहता हूँ, मैं जोर से चिल्ला पडूँगा यदि तुमने मेरी अवहेलना की—

"—मुझपर रंज तो नहीं हैं ?"

"—क्यों, रंज क्यों होऊँगा ?"

"शायद मुझसे कोई अपराध हो गया हो तो क्षमा—!"

"नहीं आप से कोई अपराध नहीं हुआ है—" बड़े स्पष्ट शब्दों में दृढ़तापूर्वक रमा बोली—"हम दोनों से बढ़कर अपराधी लोग इस संसार में हैं, जो अपने कलुषित जीवन पर एक काला आवरण डालकर, निर्भय हो समाज के प्रांगण में विचरा करते हैं।

रमा के इन अन्तिम शब्दों से रघुनाथ को कुछ शान्ति मिली। वह मुस्करा पड़ा और साथ ही रमा ने भी एक मीठी मुस्कान से उसे पुरस्[illegible]या।

१७

श्रावण के दिन थे। कभी-कभी रिम-झिम रिम-झिम बूँदें धरित्री के वक्षस्थल पर बिखर पड़ती थीं? आकाश मानिनी के मुख की भाँति भरा था। तारिकाएँ सूम के बीवी की बेंदुली की नाईं टिमटिमा रही थीं। घर-घर दीप जल चुके थे, जो श्रावण के अंधकारपूर्ण निशा को, मार भगाने की असफल चेष्टा कर रहे थे। ऐसे समय रघुनाथ कुछ बेचैन-सा घर में घुसा और रमा से बोला—मुझे जल्दी भोजन दो।

"इतनी शीघ्रता क्यों" हँसकर रमा ने पूछा—

"बताऊँगा, पहले थाल लगावो तो!"

रमा ने थाल परोस दी। रघुनाथ ग्रास मुँह में डालता हुआ बोला—आज तुम्हें मुझपर विशेष कृपा करनी होगी।

क्या?

आज मैं झूला देखने जा रहा हूँ। तुम मेरे बाहर वाले कमरे में ही सोना, नहीं तो लौटने पर मुझे परीशान होना पड़ेगा, भीतर सोने से तुम्हें मेरी पुकार न सुन पड़ेगी।

'कब लौटिएगा?'

'करीब डेढ़, दो घण्टे में।'

'अच्छा जाइये। पर आपने खाया कुछ नहीं।'

इस समय मेरे मस्तिष्क में कुछ और ही बातें घुड़दौड़ मचा रही हैं। क्षमा करो, मुझसे खाया नहीं जाता। रघुनाथ झटपट थाल से उठा और झूला देखने अपने साथियों के संग चला गया।

भोजनोपरान्त रमा उसके कमरे में गई। थोड़ी देर तक तो वह योंही अन्यमनस्क-सी उदास बैठी रही। रघुनाथ के बिना वह कमरा उसे बड़ा सूना मालूम हो रहा था। वह सोने की चेष्टा करने पर भी सो न सकी। विवश हो वह रघुनाथ के टेबुल के निकट जा कुर्सी पर बैठ गई। वह उसकी किताबें, मसीपात्र, लेखनी व लेख आदि एक-एक चीजों को स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखने में कुछ काल-तक अपने को उलझाए रही। उसे रघुनाथ की वस्तुओं तक से जानें क्यों इतनी प्रगाढ़ प्रीति हो गई थी। वह सब में अपना ही रूप देख रही थी। फिर वह कुर्सी से उठी और कमरे में घूमने लगी। कमरे में टँगे कितने ही सुन्दर भाव-पूर्ण चित्र, उपदेशपूर्ण वाक्य उसके दृष्टि-पथ से गुजरे, पर कोई उसे अपने में उलझा न सका। अन्त में उसकी दृष्टि रघुनाथ के एक सीधे-सादे चित्र पर पड़ी। "रघुनाथ एक सुन्दर, लता-गुल्म विमण्डित पुष्पोद्यान में बड़े आकर्षक ढंग से बैठा है।" रमा इस चित्र को बड़े स्नेह-विभोर-लोचनों से खड़ी-खड़ी उसे निहारने लगी, फिर भी उसे तृप्ति न हुई। उसके जी में आया, चित्र को नीचे उतारकर भली तरह देखूँ। विचारों की प्रबलता में वह झट् मेज पर चढ़ गई और ज्योंही उसने चित्र उतारा कि रघुनाथ ने बाहर से पुकारा—"दरवाजा खोलो !!"

रघुनाथ की इस पुकार ने रमा को आलोम स्पंदित कर दिया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कोई वस्तु धड़ से आकर कलेजे में टकरा गई हो। वह अपनी स्नेह-दुर्बलता को प्रकट होने देना नहीं चाहती थी। बेचारी बड़े कुअवसर पर पकड़ी गई। उसके पैर काँपने लगे। वह घबड़ाकर मेज से कूदनाही चाहता थी कि उसके पैर "वास्केट" से उलझ गये और वह टेबुल, लैम्प, कलम, दावात, सब को लिये-दिये जमीन पर आ रही। बड़े जोरों का धमाका हुआ। टेबुल कुर्सी सब उलट गई। दावात और लैम्प के शीशे की इतिश्री हो गई।

घबराया हुआ रघुनाथ, जरा झल्लता-सा बोल उठा—हाँ, हाँ !! यह कैसा धड़ाका ! क्या गिरा ! बत्ती क्यों न जला ली ! आफ्फोह ! कैसो जल्दबाज हो तुम ! जानें कौन कौन सी चीजें नुकसान हुईं। तुम्हारा सर फटा या टांग टूटी ! खोलो खोलो जल्द दरवाजा खोलो।

दरवाजा खुला। धड़-धड़ाता हुआ रघुनाथ भीतर घुसा। उसने अपना "टार्च" जलाकर देखा, मेज उलट गई है। कलम दावात, पुस्तकें सब यत्र-तत्र फैली पड़ी हैं। शीशे का गुलदस्ता लैम्प की चिमनी, खूबसूरत दावात, सब टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं।

इतनी वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर भी रघुनाथ को कुछ दुख न हुआ, पर रमा कुछ संकुचित-सी हो गयी। रघुनाथ ने नम्रता-पूर्वक कहा—संकुचित होने की कोई आवश्यकता नहीं। गलती सभी से होती है। लो यह टार्च, ऊपर से जाकर दूसरा लालटेन ले आओ।

रमा अपनी मूर्खता पर आलोचना प्रत्यालोचना करती हुई ऊपर से लालटेन ले वापस आई और बिखरी वस्तुओं को एकत्र करने लगी। रघुनाथ ने उसे ऐसा करते देख कहा—हाथों से ही शीशे की भी सब चीजें इकट्ठी कर रही हो, अगर एक टुकड़ा कहीं हाथों में गड़ गया तो फिर लेने के देने पड़ जायँगे ! तुम इतनी घबराई क्यों हो ? इसमें लज्जित होने की कौन सी बात है ? अन्धेरे में आ रही थी, धक्का लगा, मेज उलट गई और कुछ चीजें नष्ट हो गईं, बस, यही न ! यह कोई वैसी भूल या महाअपराध नहीं, जिसके प्रायश्चित में तुम्हें सीता की तरह पाताल-प्रवेश का प्रयत्न करना पड़े। हाँ, मैं घबराया इसलिये कि तुमने कहीं जल्दी में अपना सर, पैर तो नहीं तोड़ लिया। ऐसा न हुआ, खैरियत हुई। इसे झाडू से बटोरकर एक कोने में लगा दो। सबेरे नौकर आकर फेंक देगा।

रमा ने रघुनाथ के आज्ञानुसार झाड़ू से सारे बिखरे शीशों को बटोरकर एक कोने में तो लगा दिया, पर उसकी लज्जा दूर न हुई।

वह चुप नतमस्तक एक ओर खड़ी रही। रघुनाथ बोला—मैं उस समय भर पेट न खा सका था, अगर कुछ खाने की वस्तु हो तो लाओ, बड़ी भूख लगी है।

रमा ने आज्ञानुसार तश्तरी में कुछ पूड़ियाँ और थोड़ी सी मलाई लाकर रघुनाथ के सामने रख दिया और आप फिर एक ओर चुप खड़ी हो गई।

रघुनाथ पूड़ियाँ तोड़ता हुआ व्यंग से बोला—तो इन वस्तुओं के नष्ट होने के महाप्रायश्चित स्वरूप कितने घण्टे, कितने दिन, कितने मास, कितने वर्ष और कितने युग-युगान्तर तक यह मौनव्रत चलेगा?

रमा अपनी दाड़िम-सी दशन-पंक्तियों से, अपने बिम्बा जैसे होठों को चाँपकर मुसकाई। रघुनाथ खाते खाते ही बोला—लो, मलाई में तो मीठा है ही नहीं! रमा मलाई में मीठा डालकर लाई थी। वह साश्चर्य बोली—मीठा तो मैं डालकर लाई थी, यदि कम हो तो, कहिये और ला दूँ!

रघुनाथ अट्टहास करता हुआ बोला—"लो मुँह मीठा कराओ। कितना शीघ्र मैंने तुम्हारे प्रायश्चित की पुर्णाहुति करा दी!"

दोनों ठहाका मारकर हंस पड़े। भोजनोपरान्त रघुनाथ अपनी रिष्टवाच को मेज पर रखने के निमित्त ज्योंहीं उस ओर बढ़ा था कि सहसा उसकी दृष्टि एक रिक्त स्थान पर पड़ी। वह आश्चर्यमिश्रित स्वर में बोला—अरे—! मेरा फोटो—!!"

रमा काष्ठवत् हो गयी। वह आपादमस्तक थरथरा उठी, जैसे न्यायाधीश ने अपराधी को दंडाज्ञा सुना दी हो। वह चुप रही। कुछ उत्तर देते न बना। रमा को मौन देख वह बोला—उत्तर क्यों नहीं देतीं? आज क्या है, जो मेरी सब बातों का उत्तर तुम मौन होकर दे रही हो! बोलो न, फोटो क्या हुआ? तुम्हें कुछ मालूम है! "हाँ" या "नहीं" कुछ भी तो कहो।

—"हाँ।" बस इतना ही कहकर रमा चुप हो गई।

—'क्या हाँ! पहेली मत बुझाओ, स्पष्ट बताओ।'

—'फोटो है।'

—'अरे कहाँ है, वही तो पूछता हूँ।'

—'आलमारी में।'

—"आलमारी में! आलमारी में फोटो किसने रखा!"

—"यह सब बातें मुझी से आँखे निकाल-निकाल कर पूछ रहे हो। जाओ मैं कुछ नहीं जानती।"

रघुनाथ के तंग करने से इस बार रमा भी झुंझला पड़ी। वह नहीं चाहती थी कि उसका प्रेम-रहस्य इतना शीघ्र खुल जाय।

रघुनाथ नम्र हो बोला—तो किससे पूछूँ, तुम्हारे ही निरीक्षण में तो मेरा कमरा रहता है। अवश्य नौकर कुछ गड़बड़ करता है। बस, मैं समझ गया, अब कमरे की कोई चीज न बचेगी। अब ताली न छोड़ूँगा।

"लो, तुम तो अच्छी बात कहने पर भी रुठती ही जा रही हो। ताली न छोड़ने की बात तो मैंने इसलिये कही कि तुम घर के धंधों में उलझी रहती हो, नौकर जरूर कुछ गड़बड़ करता होगा।'

—'जी नहीं, मैं वैसी असावधान नहीं हूँ। मैं आपके कमरे की सफाई स्वयं खड़ी होकर कराती हूँ।'

—"तो फोटो के पर लग गये होंगे, जो वह दीवार से उड़कर आलमारी में चला गया होगा।" रघुनाथ के इस वाक्य में व्यंग था।

नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं। यदि आप अपने फोटो के लिये इतने अधीर हैं तो सुनिये—

"मैं ही उस फोटो को देखने के लिये दीवार से उतार रही थी, इतने में हुजूर ने दरवाजे पर वह ज़ोर की आवाज लगायी कि मैं घबरा गई। मेज से उतर ही रही थी कि बास्केट में टाँग फँस जाने

से यह महाअपराध हुआ। चित्र को आलमारी में मैंने ही रखा है। समझे गरीब परवर !"

रघुनाथ बच्चा नहीं था, वह बी० ए० का विद्यार्थी था। मानोविज्ञान पर उसका पूर्णरूपेण अधिकार था। उसे ताड़ते देर न लगी कि यह रमणी-हृदय की उस तरल स्नेह-धारा का ही परिणाम है। उसने उसे प्रणय-विभोर कर दिया। दूर-स्थित चित्र-दर्शन से प्रेम-प्लावित स्त्री-हृदय की प्रबल प्यास न बुझी, उसने उसे अपने निकटतम ला, अपनी मनःतृषा शान्त करनी चाही। ओह् ! कैसा अखंड अनुराग है ! प्रबल प्रेमानुरक्ति है !!

अपनी इन्हीं धारणाओं के विचार-वायु में रघुनाथ ऐसा उड़ा कि वह उन्मत्त-सा दौड़कर रमा को अपने कर-पाश में आबद्ध कर, बड़ी आतुरता से उसके अधरों का चुम्बन पर चुम्बन लेने लगा।

रमा पुनः एकबार स्पंदित हुई। उसकी हृत्तंत्री के तार तार में विद्युत्शक्ति का प्रवाह दौड़ गया। मुखाकृति आरक्त हो गयी। नासिका छिद्रों से ऊष्ण श्वासें निकलने लगीं। परन्तु श्रमित पथिक जैसे किसी वृक्ष की शीतल छाया को पाकर तृप्त हो जाता है उसी प्रकार रमा, रघुनाथ के कर-पाश की शीतल छाया में शिथिल-सी हो गई। उसने अपना शीश रघुनाथ की गोद में रख दिया।

पुरुष-हृदय-स्पर्श ने उसमें एक तीव्र मद्य से भी अधिक तीव्र उत्तेजक नशा भर दिया। और उस अभागिनी नारी ने कुत्तों की भाँति अपना ही रक्त पीकर अपने आनंद का दुरुपयोग किया ! बाल्यवस्था की वह निरंतर जागरुकता, युवाकाल की वह सज्ञान सतर्कता, धर्म-प्रेम, आत्म-विश्वास, सतीत्व-स्नेह, सभी इस घृणित आनंद की कुत्सित लिप्सा और पुरुष-सम्पर्क की नाशकारी ज्वाला में जल-भुन कर क्षार-क्षार हो गई। अब—! अब कोयलों पर शान थी ! ख़ाक

पर आन थी और तृण् जीवन पर मान था। सदाचार की वह दैवी सम्पत्ति तो समाप्त हो गयी थी।

१८

रमा और रघुनाथ दोनों ने जी खोलकर वासना-वारुणी का पान किया और इस विनाशकारी वारुणी की अग्नि में उन्होंने अपनी बची हुई मानापमान की थाती को सदा के लिये भस्मसात् कर दिया। दोनों इस विनाशकारी वारुणी के कारण अपने स्वर्गीय जीवन से फिसल कर पाप और वासना को दुनियाँ में स्वतन्त्रतापूर्वक चक्कर काटने लगे। विचार-क्रम पलटा, रमा सोचने लगी—मैं कैसी मूर्खा थी! कैसे भयानक भ्रम में पड़ी संसार के इस सर्वाधिक आनन्द से बहुकाल तक वंचित रही! यह ईश्वर, धर्म, नियम, सब किताबों की बातें हैं। बस खाओ-पिओ आनन्द मनाओ! कैसा स्वर्ग! कैसा नरक!! सब मिथ्या! सब विडंबना!!

रमा अब अपने को नित्य नये-नये आभूषणों से विभूषित करने लगी। इधर रघुनाथ की भी वेशभूषा में काफी परिवर्तन हुआ। अब उसने अपने आपको आधुनिक वेश-भूषा में बदल डाला था।

पंडितानी तो नहीं, पर पं० जी इस सुसंस्कृता, धर्म-निष्ठा विधवा नारी के इन विचित्र परिवर्तनों से सशंक थे। उधर वेटे का अप-टू-डेट फैशन उनके हृदय को मथ रहा था। पर वे बाबा तुलसीदास के चौपाई—"होइहैं सोई राम रचि राखा" के आसरे चुपचाप इस विष-वृक्ष को पल्लवित होते देख रहे थे।

इस नरक कुण्ड में गोते लगाते, रमा और रघुनाथ को एक वर्ष बीते। अब भोग-विलास की ऐसी कोई नवीन सामग्री नहीं रह गई,

जो अनेकों बार बर्ती न जा चुकी हो। रघुनाथ ऊबा और रमा भी। एक ही चीज को बार-बार खाते, एक ही बात को रोज-रोज सुनते और एक ही जगह नित्य निवास करते मनुष्य का ऊब उठना स्वाभाविक है। और इस स्वभाव के अपवाद रमा और रघुनाथ भी न हो सके, परन्तु दोनों के ऊबने में अन्तर था। रमा कभी-कभी अपने वर्तमान जीवन की अधमता सोच सोच कर घबड़ा उठती थी और रघुनाथ से तटस्थ हो जाया करती थी। इधर रघुनाथ का मन रमा की इस तटस्थता से ऊबकर, नवीन आकर्षण की ओर भागा। उसने सोचा—इस रूप और शोभा की तो खूब बहार लूटी, अब जरा दूसरे पुष्प का रसास्वादन भी लेना चाहिये। मगर अब जो मिले इसकी तरह ग्रामीण नहीं। काफी पढ़ी लिखी हो, प्रणय-वियोग की लम्बी-लम्बी चिट्ठियाँ चुभती हुई भाषा में लिखनेवाली, वियोग-विह्वलता के प्रदर्शन में कालीदास की "शकुन्तला", शेक्सपियर की "जुलियेट" से भी टक्कर लेने वाली हो। और—और, "बिलकुल अपटूडेट" "जैण्टिलमैन-लेडी !"

रघुनाथ के कॉलेज के निकट ही इसाई कुमारियों का एक "ब्रह्मचर्य-आश्रम" था, जिसमें इसाई चिर-कुमारियाँ ही निवास करती थीं। इस आश्रम को उनकी भाषा में "नन-चर्च" कहा जाता है। शहर से दूर एक शान्त, सघन रसाल-कुञ्ज में वह "नन-चर्च" अवस्थित था। कॉलेज के कई बदमाश छोकड़ों से इन मिसों की दोस्ती थी और छुट्टी होते ही ये छोकड़े उस "नन-चर्च" के इर्द-गिर्द गृद्ध की तरह मंड़राया करते थे। "पार्क" "सिनेमा-हाउस" या स्टेशन का "वेटिङ्ग-रूम" इन "प्रेमी प्रेमिकाओं" के मिलन-मंदिर थे। अब रघुनाथ भी कॉलेज के अवारा लड़कों के संग इस "नन-चर्च के निकट चक्करें काटने लगा था।

इन मिसों के जानुओं तक झूलता हुआ गुलाबी रेशम का फ्राक,

अधखुली छाती के जम्फर, घुटनों तक के रेशमी मोजे, भूरी अलकें, हेजलीन, क्रीम, पाउडर तथा लिपस्टिकों द्वारा रंजित होंठ और मुखाकृति की कृत्रिम शोभा, कालेज के उठते हुए सुसंस्कृत तथा सुशिक्षित छोकड़ों के दिलों में डंक मारने के लिये प्रचुर शक्ति-सम्पन्न थीं। सड़कों पर, भरे यौवन की उद्दाम अंगड़ाइयाँ लेती हुई, हूरों की इस साजो-समान से चहल-कदमी देख, रघुनाथ अपना अस्तित्व खो बैठा। उसे ऐसा भास होने लगा जैसे वह किसी दूसरे लोक में पहुँच गया है, जहाँ रूप, यौवन और समस्त लालसाओं का सुखद-केन्द्र है। उसने आँखे फाड़-फाड़ कर देखा। सारा "नन-चर्च" कोहेकाफ हो रहा था। रघुनाथ अपने मित्र, विश्वमोहन की पीठ थपथपाते हुए बड़े भाव-विभोर स्वर में बोला—भाई बिस्सू, बूढ़े विधाता की ऐसी सर्वोत्कृष्ट कला-पूर्ण रचना आलोकित कर मुझे तो बड़ा आश्चर्य हो रहा है। उन्होंने किन ढाचों में इन किन्नरियों को ढाला है! अरे, अरे, जरा उसे देखो, वह—!वह—!! गोरी गोरी सी, पतली-पतली-सी! आह, क्या यौवन है, मानों मादकता सजीव होकर उसके अंग-अंग पर अठखेलियाँ कर रही हो। यार, जरा उसे बुलाओ, कुछ बातें हों।

इस लोक के अनुभवी बिस्सू बाबू रघुनाथ की इस अल्पज्ञता तथा उतावलेपन पर हँसकर बोले—यह बाजारू सौदा नहीं, जो पैसा फेंका और खरीद लिया! पहले डोरा डालना होगा, कुछ फेंकना होगा, तब कहीं चिड़िया जाल में फँसेगी। इनको वशीभूत करना दाल भात का कौर नहीं! समझे। इनसे बात करने के पहले पूरी तैयारी करनी होगी—!

"कैसी तैय्यारी?" अभिज्ञ-सा रघुनाथ ने पूछा।

"यही कि पहले कुछ भेंट चढ़ाओ!"

"क्या?"—सरलतापूर्वक रघुनाथ ने फिर पूछा।

इतने भोले हो, तब तो कर चुके प्रेम का सौदा! अजी पहले इनके चरणों पर, साड़ी, सेंट, स्नो, पाउडर, फ्राक, मोजे, जूते, यह सब चीजें भेंट चढ़ाओ, तब जवान खोलने की हिम्मत करो।

"और अगर ये इन सब चीजों को लेकर भी न बोलीं तब!" रघुनाथ ने पूछा।

यदि तुम प्रेम में बनियों की तरह कौड़ी-कौड़ी के लाभ-हानि की बात सोचागे, तब तो कर चुके प्रेम। अरे फेंके जावो, लुटाये जावो, कभी तो बाजी पड़ेगी।

बिस्सू की यह फिलॉसफी रघुनाथ की समझ में तिलमात्र भी नहीं आयी। उसने अन्यमनस्क हो लौट चलने को कहा।

रघुनाथ घर लौटा। पर उस इसाई कुमारी पर उसका जी अटक गया था। उसकी मोहनी-मूर्ति रघुनाथ की आँखों की राह घुसकर उसके हृदय पर आधिपत्य स्थापित कर चुकी थी। सारी राह उसकी प्राप्ति का "प्लान" सोचता, रघुनाथ घर आया। रघुनाथ को आया जान रमा ब्यालू लेकर उसके कमरे में आयी। आज उसने आकर्षक शृङ्गार कर रखे थे। उसे आशा थी, आज वह रघुनाथ पर पर्याप्त प्रभाव डाल सकेगी, परन्तु वात विपरीत हुई। रघुनाथ के हृत्पट पर उस "अपटुडेट-लेडी" की छवि चित्रित हो चुकी थी। उस छवि को यह पुरानी तथा व्यवहृत छवि पराजित न कर सकी। रघुनाथ ने रमा को एक उड़ती हुई दृष्टि से देखा, और आँखें नीची कर लीं। रमा को ऐसा लगा, जैसे उसके हृदय में एक साथ ही सहस्त्रों भाले चुभ गये हों। वह मानिनी की भाँति ब्यालू रखकर बड़ी तेजी से कमरे के बाहर हो गई।

रघुनाथ को अब अपनी भयंकर भूल मालूम हुई—"ओह! मैंने कैसा घृणित अपराध किया! वह बेचारी कैसे निष्कपट भाव-प्रवाह में, स्नेह और प्यार की उमंग लिए मेरे निकट आई थी और मैंने

उस नारी-हृदय की उपेक्षा कर उसके हृदय पर आघात किया। वह विधर्मी ईसाई छोकड़ी, जिसे अपनी कृत्रिम रूप शोभा पर बड़ा गर्व है, जिससे वार्तालाप करने मात्र के लिये सर्व-प्रथम देवताओं के सदृश पूजा चाहिये, क्या वह इस निरीह प्रेम की साक्षात् देवी को पा सकती है? कभी नहीं।" भावावेश में रघुनाथ उठा और जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाता हुआ रमा के प्रकोष्ठ की ओर चला।

रमा रघुनाथ की इस असह्य उपेक्षा से तो दुःखित थी ही, साथ ही उसे अपने वर्तमान घृणित जीवन पर भी कम दुख न था। उसके नेत्रों से अविरल जलधारा बह निकली। वह सोच रही थी, उनकी उपेक्षा मुझे क्यों इतनी खली! केवल अवाँछित स्नेह और घनिष्ट सम्पर्क के ही कारण तो! परन्तु, भृत्य-जीवन तो उपेक्षा तथा तिरस्कार का जीवन है ही, इसके लिये रोना क्या। ओह! मैंने बड़ी भारी भूल की।

सहसा रघुनाथ खाट पर आ बैठा और उसे प्रेम-पूर्वक आलिंगन करता हुआ बोला—रो रही हो रमा! क्षमा करो मुझे। वस्तुतः मैं अपराधी हूँ।

रमा शान्त स्वर में बोली—इसमें आपका अपराध नहीं, सारा अपाराध मेरा है। मैंने ही आपसे घनिष्टता बढ़ायी।

रघुनाथ विनीत स्वरों में बोला—पर, तुम जानती हो, बिना घनिष्टता के प्रेम का सच्चा सुख कहाँ मिलता है?

रमा रघुनाथ के आलिंगन-पाश से अपने को छुड़ाती हुई बोली—"किन्तु जीवन के इस घृणित तथा क्षणिक सुख के अन्तर्पट में, कितनी दाहक-ज्वाला है, इसपर आपने कभी विचार किया है?

रमा की यह मर्मस्पर्शी बात रघुनाथ के अन्तर्हृदय पर कुछ प्रभाव न डाल सकी, उसे मनस्ताप हुआ। हृदय पर एक ठेस लगी और बिना कुछ कहे कमरे के बाहर हो गया।

रघुनाथ के गमनोपरान्त रमा सोचने लगी—"देखो, इन्हें अच्छी बात बुरी लग गई और रुष्ट होकर चले गये। जब मैं जानती हूँ कि इनके बिना नहीं रह सकती, तो व्यर्थ ही यह "ज्ञानगुदरी" ले बैठी। वे मेरे ज्ञान के भूखे थोड़े हैं! उन्हें तो प्रेम चाहिये, मेरे ज्ञान की सूखी बातें नहीं। उफ! मैंने बड़ी भूल की।

रमा दौड़ती हुई रघुनाथ के कमरे में पहुँची। पर वहाँ रघुनाथ कहाँ था। वह तो अपनी नई प्रेमदेवी के पूजार्थ "इङ्गलिश कम्पनी" का ७५) रु० कई आने का "बिल" चुका "नन-चर्च" की ओर भागा जा रहा था। उसके आहत हृदय पर इस समय मान का भीषण ताण्डव हो रहा था।

रघुनाथ "चर्च" के सामने सड़क पर खड़ा हो गया। अभी ६—६॥ सन्ध्या का समय था। ग्रीष्म ऋतु और चाँदनी रात थी। रघुनाथ सड़क पर खड़ा-खड़ा सोचने लगा, "मैं अपनी यह प्रणय-भेंट उस तक पहुँचाऊँ किस प्रकार? आवेश में तो चला आया। और, और—मुझे यों यहाँ घूमते यदि कोई देख ले और कारण पूछ बैठे तो—!" इसी समय "चर्च" के फाटक से निकलती हुई तीन मूर्तियाँ उसे दिखाई पड़ीं। ज्यों-ज्यों वह निकट आती जाती थीं, सारा वायु-मंडल "सेन्ट" की तीव्र सुगंधि से भरता जा रहा था। अब वे मूर्तियाँ सड़क पर, बिलकुल रघुनाथ के निकट थीं। उसने देखा, यह त्रिमूर्ति 'चर्च' की ही कुमारियाँ हैं, जिनमें एक बिलकुल बुड्ढी है, यद्यपि उसने युवती बनने की विफल चेष्टा की थी। दूसरी प्रेमिका कोई वयस्क और तीसरी उसकी इच्छिता थी।

उन बूढ़ी मिस ने इस छोकरे पर एक तीक्ष्ण दृष्टि निक्षेप की और सारी बातें समझ गई वह। उनका सारा चिर-कुमार जीवन संसार निरीक्षण में ही व्यतीत हुआ था। वे आगे बढ़ीं और रघुनाथ से बोलीं—वेल बाबू! यहाँ क्यों खड़ा है? किसे ढूँढ़ रहा है?

रघुनाथ आगे बढ़ा और बाअदब बोला—मैडम! ढूँढ़ता किसी को नहीं, रास्ता भूल गया हूँ। मैं सिनेमा जाना चाहता हूँ।

"—ऑलराइट!"—वह बूढ़ी बोली—'सिनेमा तो हम लोग भी चलता है, चलो।'

अन्धे को चाहिये क्या! आँख! वह रघुनाथ को मिली। वह अपने मन में मिस बाबा को लाखों दुआ देता, उनके साथ हो लिया।

"सेकेण्ड-शो" आरम्भ होने जा रहा था। लोग धँसे पड़ते थे। उस दिन प्रयाग में 'जीवन-नैय्या' का प्रदर्शन होनेवाला था। मिस बाबा अपनी दोनों मिसों को लिये उस नर-समूह में घुस पड़ीं। वे टिकट घर तक पहुँची भी न थीं कि सहसा एक झुण्ड के धक्के से तीनों अलग-अलग हो गईं। वह बेचारी गोरी मिस, जो रघुनाथ की भावी प्रणयिनी थी—एक ओर डरी सी, घबराई सी सिटपिटा कर खड़ी हो गई। उस बेचारी की समझ में न आया कि वह क्या करे?

रघुनाथ तो इसी अवसर की ताक में था ही। वह लपककर उसके पास पहुँचा और आत्मीयता प्रदर्शित करते हुए बोला—क्या वे लोग छूट गईं? खैर! चिन्ता की कोई बात नहीं, मैं शीघ्र उन्हें ढूँढ़ लाता हूं।

मिस साहबा रघुनाथ को कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टियों से देखती हुई बोलीं—आपकी इस कृपा के लिये अनेक साधुवाद! यदि आप उनसे मुझे मिला दें, तो मैं आप की चिरऋणी हूँगी। उफ! बड़ा "रश" है। मैं जानती तो कभी न आती।

कितनी मीठी बोली है। मानों मंजरित-रसाल-शाखाओं के कोमल किसलयों के अन्तर-पट से, सप्तम स्वर में कोकिला कूक उठी हो। रघुनाथ के हृदय-प्रदेश में भयंकर आँधी-सी उठ खड़ी हुई। ओह! कहाँ वह मूर्खा ग्रामीण उपदेशिका और कहाँ यह सभ्य, शिष्ट, शिक्षिता कोकिला! आकाश पाताल का अन्तर! मैं भी कैसे भयानक भ्रम में पड़ा था, जो हीरे को छोड़ ठीकरे को अपनाये बैठा था।

रघुनाथ ने मिस बाबा की खोज सारे सिनेमा-कम्पाउण्ड में की पर उनका कहीं पता न लगा। विवश होकर वापस आया और बोला—मिसबाबा का तो कहीं पता नहीं। अब उनकी प्रतीक्षा करना व्यर्थ है! यदि आज्ञा हो तो मैं आपको आश्रम तक पहुँचा दूँ। मिस साहबा ने जरा नीची निगाह कर अपनी स्वीकृत दे दी।

रघुनाथ गाड़ी ले आया। दोनों उसपर सवार हो गये और गाड़ी चल पड़ी। उस शून्यपथ के शून्य वातावरण को भेदन करती हुई घोड़ा-गाड़ी भागी जा रही थी। एक सीट पर रघुनाथ था और दूसरे पर मिस। दोनों निर्वाक थे। दोनों खिड़की से मुँह लगाये उस शून्य-पथ की भयंकरता देख रहे थे। उस इसाई कुमारी के हृदय में चाहे जो हो, पर इस समय रघुनाथ के हृदय में भयानक द्वन्द मचा हुआ था। वह क्षण-क्षण पर किसी विद्युतमय विचारों के स्पर्श से स्पंदित हो उठता था। यदि आज यह अपूर्व अवसर हाथों से निकल गया तो फिर ऐसा स्वर्ण-सुयोग कदाचित कभी हाथ न लगेगा, परन्तु किस प्रकार बातें शुरू करूँ! "चर्च" भी निकट आता जा रहा है। सहसा रघुनाथ के मुख से मानों किसी ने बलात उसका गला दाबकर कहा डाला—मिस साहिबा!

वह मिस एकाएक चौंककर रघुनाथ की ओर देखने लगी, परन्तु रघुनाथ उस समय खिड़की के बाहर मुँह किये अपनी वाचाल-जिह्वा को बुरी तरह कुचल रहा था, और इस भाव में बैठा था मानों उसने कुछ कहा ही नहीं।

मगर मिस ने उससे पूछा—क्यों साहब! आपने मुझे याद किया? कहिये क्या आज्ञा है?

रघुनाथ को जैसे जान में जान आई। उसके हृदय में पाप था। वह डर रहा था, एकान्त में छेड़ने से कहीं वह बुरा न मान बैठे। किन्तु उसकी शान्त-मुद्रा देख रघुनाथ को कुछ साहस हुआ, वह

सगम्भीर बोला—क्षमा कीजियेगा, मैंने ही आपको कुछ कष्ट देने का दुस्साहस किया है।

वह बड़े उत्साह से सहर्ष बोली—कष्ट की क्या बात है? फरमाइये!

रघुनाथ सनम्र बोला—जी, कहना यह था कि आप तो भारतीय हैं, यह इसाई-धर्म क्या आपने ही स्वयं स्वीकार किया था या आपके पूर्वजों ने।

मित्र—मैं अपने पूर्वजों की बात कुछ नहीं जानती। हाँ, जब मैं वयस्क हुई, भले-बुरे का ज्ञान हुआ तो मुझे बताया गया, मैं इसाई हूँ। प्रभु ईसा-मसीह मेरे तारनहार हैं। अपने इस प्यारे तारनहार की सेवा के लिये आवश्यकता है, अखंड ब्रह्मचर्य की और तब से मैं कुमारी हूँ।

"हाँ यह तो मैंने समझा परन्तु क्षमा करें, इस वेश में, ऐसे देश में और ऐसे वायुमंडल में पलकर कैसे कोई आजन्म ब्रह्मचर्य-पालन कर सकता है, यह एक द्विविधापूर्ण बात है!" रघुनाथ क्रमशः अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा था।

वह समर्थन के स्वरों में बोली—वस्तुतः आपने बहुत ठीक कहा। ब्रह्मचर्य-पालन के लिये कुछ विशेष नियम और नियंत्रण की आवश्यकता है, जिसका इसाइयों के यहाँ अभाव है। हाँ, हिन्दुओं के यहाँ इसके नियम-उपनियम बहुत अच्छे हैं।

अपने धर्म की प्रशंसा एक विधर्मी महिला द्वारा श्रवण कर रघुनाथ का कलुषित हृदय जैसे नरक से स्वर्ग की ओर मुड़ा। वह चुप रह गया। पर उसकी मौनावस्था को भंग करती हुई वह पुनः बोली—कदाचित मेरी इन बातों को आप किसी दूसरे रूप में समझते होंगे परन्तु प्रभु साक्षी हैं, मैं वास्तविक बात कह रही हूँ।

रघुनाथ कृतज्ञता-पूर्ण स्वर में बोला—यह आपकी उदारता

है !" फिर सहसा, जैसे वह सोते से जगा। बोल उठा–"वह रोशनी शायद आप के ही "चर्च" की नजर आ रही है ?"

मिस ने मुस्कराकर कहा—जी हाँ, अब हम पहुँच गये, आपको अनेकानेक धन्यवाद !

"—पर एक विशेष बात कहनी है—!" आगे उसे बोलने का साहस न हुआ, मानों कोई अज्ञात शक्ति उसे न बोलने के लिये बाध्य कर रही हो।

रघुनाथ को इस प्रकार सहसा मौन हो जाते देख, वह उत्कंठा से बोली—हाँ, हाँ कहिये-कहिये, आप रुके क्यों ! आप जो कुछ भी कहेंगे, मेरे सर आँखों पर ! आप जरा भी संकोच न कीजिए।

रघुनाथ शराबियों की तरह बोला—मिस साहिबा ! आप चाहे मुझे जो समझें, मैं आपके हाथ बिका हुआ, आपके द्वार का एक स्नेहार्त भिक्षुक हूँ। मेरे जीवन-मरण की समस्या आपकी ही कृपा पर आश्रित है। कल संध्या को मैंने आप को देखा था। उसी समय से अब तक चैन नहीं। क्षण-प्रति-क्षण आपकी यह मोहनी मूर्ति आँखों के समक्ष नर्तन किया करती है। आज मैं आपही के दर्शनों के लिये इधर आया था। साथ ही ये वस्तुयें भेंट-स्वरूप आप के लिये लेता आया हूँ।

कृतज्ञतापूर्ण नेत्रों से रघुनाथ की ओर देखती हुई मिस बोली—मेरा अहोभाग्य जो आप-सा एक सभ्य, शिक्षित और सज्जन पुरुष मुझे मित्र के रूप में मिला। मैं भी आपही के सदृश अपने एक मित्र की खोज में थी।

उन्मत्त व्यक्ति की भाँति रघुनाथ अपनी भेंट-सामग्री खोलकर मिस के हाथों में देने लगा और विस्फारित नेत्रों से वह मिस उन बहुमूल्य वस्तुओं को देखती हुई एक-एक कर लेने लगी।

गाड़ी रुकी। आश्रम आ गया। दो काँपते हाथ मिले और हृदय, हृदय से। मिस ने पूछा—आपका शुभनाम!

"—रघुनाथ! और आपका?"

"—मिस जेनी!" उसने मुसकराकर एक मीठा कटाक्ष किया।

"—ओह बड़ा मीठा, बड़ा प्यारा नाम है। फिर—!" रघुनाथ ने जिज्ञासा भरे नेत्रों से उसे देखा।

—कल शाम को ५ बजे, यहीं पर।

—धन्यवाद।

१६

उस दिन शाम को गया गया रघुनाथ, प्रायः एक बजे रात तक न लौटा। बिना आज्ञा व निष्प्रयोजन वह घर के बाहर इतनी रात तक कभी नहीं रुका था। रमा घबरा रही थी, पंडित जी अलग झींक रहे थे, और पंडितानी अपने पुत्र की रक्षा के लिये डीहबाबा का सुमरन कर रही थीं। पुत्र के कल्याणार्थ पंडितानी को दुआयें माँगते देख, पंडित जी झुँझलाये-से-बोले—अरे, यह क्या व्यर्थ बड़बड़ कर रही हो। आज मैं ९-१० मास से देख रहा हूँ इसके विलक्षण रंग ढंग। छोकड़ा हाथ से निकलता जा रहा है। अवश्य उसने बुरे रास्ते पर पैर रख दिया है। देवता इतने बेकार व बेहया नहीं कि तुम्हारे स्मरणमात्र से वे तुम्हारे पुत्र की रक्षा के लिये, वेश्याओं के कोठे पर मारे-मारे फिरेंगे। रघुनाथ, अब रघुनाथ नहीं रहा।

पंडितानी बोलीं—नहीं, मेरा बच्चा वैसा नहीं। व्यर्थ उसपर कलंक के छींटे न डालो।

पंडितानी जी सरोष बोलीं—तुम्हारी इन्हीं अन्धी आँखों की कृपा से तो घर और बाहर सब जगह अनर्थ हो रहा है। तुम्हें तब सूझेगा, जब घर भली तरह लुट जायगा।

पंडित जी का यह कथन—"घर में अनर्थ हो रहा है!" स्पष्टतया रमा पर आक्षेप था, जिसे सुनकर रमा तिलमिला उठी। और बात भी सच्ची थी। पंडितानी को जो उन्होंने फटकार बताई, वह भी उचित ही थी। वह गृहणी थीं, उन्हें रमा और रघुनाथ के इस अबाध्य सम्मिलन और घनिष्ठ सम्पर्क पर नियंत्रण रखना आवश्यक था। वे अपने इस कर्त्तव्य से अवश्य चूकीं। रमा ने भी सोचा, पंडित जी ठीक ही कह रहे हैं, सचमुच उनके घर में महा अनर्थ हो रहा है, जिसकी जड़ मैं हूँ।

इस समय रघुनाथ ने बड़े दर्प-पूर्ण भाव से घर में प्रवेश किया। उसकी हृद्गत प्रफुल्लता उसके रोम-रोम से निकल रही थी, मानों वह किसी अजेय दुर्ग को क्षणों में धराशायी कर लौटा हो। उल्लास और उमंग से उसका सम्पूर्ण शरीर आपही आप ऐंठा जा रहा था। पुत्र की ऐसी विलासपूर्ण एवं गर्वपूर्ण मूर्ति देख, पण्डित जी का अनुमान विश्वास में परिणत हो गया। अनुभवी वृद्ध को यह ताड़ते देर न लगी कि पुत्र, वंश को ले डूबेगा। एक बड़ी ही तीव्र प्रखर दृष्टि उन्होंने रघुनाथ पर डाली, जिसके ताप से रघुनाथ म्लान—अप्रतिभ सा हो रहा। पं० जी बिना कुछ बोले उठ गये। रमा भी पं० जी के आक्षेप से क्षुब्ध थी ही, अतः वह भी माथा झुकाये हट गई। केवल रह गई रघुनाथ की माता। उन्होंने कहा—इतनी रात तक कहाँ रहे बेटा! बाबू जी तुमपर रंज हो रहे थे। उन्हें तुम्हारे आचरण पर भी सन्देह हो गया है। अब इतनी देर तक बाहर न रहना।

"—उफ्—! कैसा नीरस वातावरण है। यह घर कितना भयानक, उदास और उलहनों का अड्डा है!" रघुनाथ मुँह लटकाये,

अपनी बैठक की ओर चला। उसे जाते देख माँ बोली—'क्या आज खाओगे नहीं! दोस्तों में कहीं दावात थी क्या?'

"हूँ" का एक गंभीर उत्तर दे रघुनाथ बैठक में चला गया। इस समय जेनी के बिना उसे सारी दुनिया वीरान-सी मालूम हो रही थी। उसका अपना यह घर, जिसमें उसने अपने जीवन के २४–२५ वर्ष सुख दुख के भँवर में व्यतीत किये थे, आज उसे काटने दौड़ रहा था। माता पिता, जिनकी गोद में प्यार से पलकर वह अब नवतरुण हुआ था, उसे यमदूत से कठोर भासित हो रहे थे। और रमा—! जिसे वह संसार की सर्वोपरि सुन्दरी समझे बैठा था, आज जेनी की तुलना में साक्षात चुड़ैल सी दीख रही थी। आज यदि किसी में रूप था, शोभा थी, आकर्षण तथा प्रेम था तो मात्र उस इसाई कुमारी में?

प्रायः आधे घन्टे की प्रतीक्षा के बाद भी जब रघुनाथ भोजन करने न आया, तो रमा उसके कमरे में गई। उस समय रघुनाथ खाट पर पड़ा-पड़ा विचारों से द्वन्दयुद्ध कर रहा था। पदध्वान सुन उसने घबड़ाकर करवट बदली। देखा! रमा फूहड़, ग्रामीण राक्षसी की भाँति खड़ी है। रघुनाथ ने उपेक्षा से एकबार उसकी ओर देखकर दृष्टि फेर ली।

रमा ने समझा, मेरी अन्यमनस्कता ही इनको मुझसे दूर रखने का कारण है। वह प्रेमपूर्ण स्वर में बोली—चलिए भोजन कर लीजिये। मुझे क्षमा-प्रदान करें।

रघुनाथ तमककर उठ बैठा, मानों रमा से युद्ध करने के लिये उसने पहले ही ठान रखी हो। वह रुक्ष स्वर में बोला—क्षमा करो देवी। मुझे आप जैसी धर्म-परायणा प्रेमिका की आवश्यकता नहीं। मुझे अपनी ही जैसी पतित प्रेमिका चाहिये। मुझसे दूर रहना ही आपके लिये हितकर है। घनिष्टता बढ़ाना ठीक नहीं।

"परन्तु मुझसे ऐसा न हो सकेगा !"

"न हो सकेगा तो आप को पछताना पड़ेगा। मैं आप को धोखा देना नहीं चाहता। समय है, सावधान हो जाइये।"

रघुनाथ ने उक्त बातें इतनी दृढ़ मुद्रा से कहीं कि उसमें रंचमात्र भी कृत्रिमता रमा को मालूम न हुई। रमा का धैर्य जाता रहा। वह रघुनाथ के पैरों पर नतमस्तक हो बोली—देव ! मुझे कोई भी दण्ड दीजिये पर इस प्रकार का दण्ड न दीजिये। मैंने आपके सुख व आनन्द के हेतु अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया। मुझे इस तरह मँझधार में न छोड़िये। मेरी लज्जा आप के ही हाथ है। रमा विह्वल हो रो पड़ी।

रघुनाथ अपना पैर समेटता हुआ बोला—"अब यह सब व्यर्थ है। मैं अपने निश्चय से तिलभर भी नहीं डिग सकता।

"सच—।" साश्चर्य मुद्रा से रमा ने पूछा।

"बिल्कुल सच।" रघुनाथ ने उसी दृढ़ता से उत्तर दिया।

रघुनाथ की इस कठोरता पर, रमा की अबतक की सारी दया और श्रद्धा क्रोध में परिवर्तित हो गयी। पिघलता हुआ हृदय अपनी हमदर्दी का सहारा पाकर, जमकर कठोर हो गया। रमा उठ बैठी, और मन ही मन अपने को कोसने लगी—छिः ! मैं भी कैसी पतिता हूँ कि ऐसे पाषण-हृदय के सामने गिड़गिड़ा रही हूँ ! क्या इनकी नवीन प्रेमिका मुझसे भी अधिक सुन्दर होगी ! मैं दिखा दूँगी सुन्दरी कौन है, मैं या वह ! आकर्षणकला में प्रवीण कौन है, मैं या वह ?

रमा स्त्री-अपमान का अकथनीय कष्ट अपने हृदय में लिये वहाँ से उठी और अपने कमरे में जा सोचने लगी—अब मुझे क्या करना चाहिये ? इस घर में अब मेरा रहना उचित नहीं। मैं इन्हीं की नगरी इस प्रयागपुरी में निवास कर, इनकी अन्धी आँखों में उङ्गलियाँ

डालकर, इन्हें नारी-अपमान का पतित दृश्य दिखाऊँगी। जिसप्रकार इस पुरुष जाति ने निरीह नारी के समस्त अभिलाषाओं को अपने कठोर पादपद्मों से कुचल डाला है—अपनी मीठी-मीठी बातों से उसके सतित्व का अपहरण कर लिया है, उसी प्रकार मैं भी पिशाचिनी का रूप धारण कर, इनके समाज के अगणित युवकों को पथ का भिखारी बनाकर छोड़ूंगी। मेरा यही पुरुष जाति से प्रतिशोध होगा। आज से नारित्व के सारे सद्गुणों—दया, प्रेम, विश्वास सहानुभूति की समाप्ति है। अब यह इन्हें धोखा देगी, उल्लू बनायेगी। इन्हें लात का जबाब जूतों से देगी। छल का उत्तर दंभ से देगी। एक पुरुष द्वारा इस निष्ठुरतापूर्वक ठुकराया हुआ नारी हृदय, सारे पुरुष समाज का बाग़ी बन बैठा।

२०

प्रातः भोजनादि से निपटकर जल्दी-जल्दी रघुनाथ कालेज भगा। ४ बजे छुट्टी होते ही नन-चर्च की ओर दौड़ा। वहाँ उसके जैसे अनेक विद्योपासक छैला प्रणयोपासना में मग्न, चक्करें लगा रहे थे। रघुनाथ भी इन्हीं में जा मिला। प्रायः ५ बजे उसे जेनी आती दीख पड़ी। उसके गोरे गात पर नीले रंग का बूटेदार "फ्राक" बड़ा सुहावना प्रतीत हो रहा था। वह स्मित हास्य करती हुई रघुनाथ के पास जा पहुँची। हँसकर दोनों ने हाथ मिलाया और पास ही एक उद्यान में आकर बैठ गये।

दोनों एक दूसरे के स्नेह को मूक-भाषा में पढ़ने की चेष्टा कर रहे थे। रघुनाथ के भावुक नेत्र इस समय जेनी के सौन्दर्य में किसी कवि

की कोमल-कल्पना-प्रसूत अलौकिक नायिका की छटा देख रहे थे। जेनी इस बात को अच्छी तरह समझ रही थी कि रघुनाथ इस समय मतवाला हो रहा है। उसने प्रेमपूर्ण स्वर में कहा—डियर, हृदय पर अधिकार जमा कर भविष्य में कहीं निराश तो न करोगे।

इन शब्दों ने रघुनाथ को उन्मत्त बना दिया। वह जेनी के कोमल हाथों को अपने हृदय से लगाता हुआ बोला—डार्लिङ्ग! निश्चिन्त रहो! धर्म, समाज, देश और जाति ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो मुझे तुमसे पृथक कर सके। इस हृदय-पटल पर केवल तुम्हारी ही मूर्ति है, जो प्रलयान्तर तक नहीं मिट सकती।

जेनी भाव-विभोर हो रघुनाथ के कन्धों पर भार देती हुई बोली—तुमसे मुझे ऐसी ही आशा है डिअर! मगर हाँ एक बात—! अच्छा जाने दो—!

"—नहीं, नहीं, जाने क्यों दो? कहो, कहो! अपने अनन्य सेवक से इस प्रकार संकोच क्यों?

"—नहीं, नहीं, संकोच किस बात का? जिसे हृदय दे दिया उससे कैसा भेद-भाव? अच्छा सुनिये, मेरी एक मित्राणी मिस नलिनी हैं, जिनका स्नेह-सम्बन्ध यहाँ किन्हीं रायबहादुर साहेब के लड़के से है। ओह, अद्भुत प्रेम है दोनों में! उन्होंने मेरी इस पोशाक के खरीदनेवाले की योग्यता पर बड़ी प्रसंशा की, परन्तु मेरे निराभरण शरीर के हेतु उन्होंने ऐसे बहुमूल्य वस्त्र को बिलकुल उपहास्यास्पद बताया। ऐसे सुन्दर वस्त्र पर चाहिये, कानों में "इयरिङ्ग", "गले में नेकलस" हाथों में "गोल्डेन रिस्टवाच" और "सोने के फ्रेमवाला चश्मा!"

जेनी और कुछ न बोल सकी! वह स्नेह तथा जिज्ञासा भरी दृष्टियों से रघुनाथ को निहारने लगी।

सौ दो सौ नहीं, पूरे हजार की फर्मायश थी! रघुनाथ की

मुखाकृति विवर्ण हो गयी। ललाट-प्रदेश पर पसीने की हल्की-हल्की बूँदे झिलमिला उठीं। बाबूजी का सारा हौसला ठण्ढा पड़ गया। परन्तु नवीन प्रेमिका के सामने अपनी असहायावस्था प्रकट करना अपना अपमान करना था। विकट समस्या खड़ी हो गई बेचारे अकिंचन प्रेमी के सामने।

उसे मौन देख जेनी बोली—क्या ये सब चीजें आप नहीं ला सकेंगें ? खैर, कोई बात नहीं।

रघुनाथ के आत्म-सम्मान ने उसका गला दबाकर कहलाया—इन साधारण-सी चीजों के लिये मैं महँगा नहीं हूँ।

"—थेंक यू डिअर !"

संध्या हो चली थी। अन्धकार बढ़ता जा रहा था। जेनी विह्वल-सी बोली—तुम्हारे बिना सर्वत्र सूना मालूम पड़ता है। एक क्षण भी तुम्हें छोड़ने का जी नहीं चाहता। पर क्या करूँ, विवश हूँ। हाँ, क्या आज 'सिनेमा' नहीं चलोगे ?

—हाँ हाँ, चलूँगा पर "सेकेण्ड-शो" में, और एक शर्त पर। वह यह कि तुम मेरे घर पर चलो। हम दोनों वहीं भोजन कर सिनेमा चलेंगे।

जेनी सहर्ष बोली—कोई चिन्ता नहीं डियर ! तुम्हारी आज्ञा सर आँखों पर, मगर मुझे जरा मिस बाबा से इजाजत लेनी होगी।

"यदि वे इजाजत देने में एतराज करें तब ?"

"आपके पास दो रुपये हैं ? जरा रुकती हुई आवाज में जेनी ने पूछा।

—"हाँ, है तो, क्यों ?"

"—उन्हें दे दूँगी, फिर छुट्टी ही छुट्टी है।

जेनी छुट्टी ले शीघ्र वापस आ गई। दोनों घर की ओर चले। मार्ग में रघुनाथ सोचता जा रहा था—"बस, आज ही उस मूर्खा

की आँखों का आवरण दूर हो जायगा। अपने ग्रामीण-सौन्दर्य पर बड़ा दर्प है। आज यह दर्प इस शोभा-समुद्र की अथाह जल-राशि में बुद्बुदे के तुल्य विलीन हो जायगा। बस, जेनी को ठीक अपने सामने बिठाऊँगा और खूब घुल-घुलकर बातें करूँगा—पर—पर—! घड़ी, चश्मा, इअरिङ्ग, नेकलेस—! ओफ्—! मानो मृत्यु दण्ड-प्राप्त व्यक्ति को सहसा अपनी मौत की तारीख याद आई। रघुनाथ काँप उठा। इसका प्रबन्ध कैसे कर सकूँगा? रघुनाथ का मुख म्लान हो गया।

हर्ष-विषाद की दुर्योधनी भावना लिये रघुनाथ घर पहुँचा। उसने देखा कमरे में दीपक जल रहा है और कोई घूम रहा है। उसने समझा रमा होगी, और कौन। अच्छी मुठभेड़ रही, अब मुझे बुलाने की भी ज़िल्लत उठानी न पड़ेगी।

रघुनाथ जेनी को लिये कमरे में घुसा। रमा पर जैसे वज्रपात हुआ। वह पाषाण-प्रतिमा-सी संज्ञा शून्य हो बड़े दीन-हीन भावों से जेनी को देखने लगी। रमा ने भी समझा, जेनी का रूप अभी प्रफुल्ल पुण्डरीकवत विहँस रहा है। उसके गुलाबी बिम्ब पर हलकी मुस्कान खेल रही है। मुखाकृति पर तेज है, नेत्रों में मद है और भाव-भंगिमा में गजब की लाच है। मैं इस देदीप्यमान शोभा के सम्मुख उस तैल-हीन दीपक के सदृश हूँ जिसमें न कुछ जीवनाशा है और न प्रकाश।

रघुनाथ जो चाहता था, वही हुआ। रमा में आकस्मिक परिवर्तन हुआ। उसकी मुखाकृति पर कालिमा की क्षीण रेखा दृष्टिगोचर होने लगी। रघुनाथ कटु-हास्य से बोला—अपने इस नवागन्तुक अतिथि की कुछ सेवा तो करो! हमें सिनेमा जाना है।

रमा, रघुनाथ के घर की मालकिन अथवा उसकी पाणि-गृहीता पत्नी तो थी नहीं। उसे इतनी हिम्मत कहाँ, जो वह अपने अन्नदाता की अवहेलना कर सके। उसने अपना हृदय पाषाणवत् बना लिया।

शीघ्र ही दो तश्तरी में जलपान सजाकर रघुनाथ के सामने रखती हुई बोली—और कुछ आज्ञा ?

रघुनाथ, रमा की यह उदारता अच्छी तरह समझ रहा था। वह रमा के अन्तर्हृदय पर आघात-प्रतिघात करता हुआ बोला—आज्ञा-वाज्ञा कुछ नहीं, अब जाकर सो रहो। आज रात मैं न आऊँगा।

"बहुत अच्छा।" रमा के स्वर में लापरवाही थी।

२१

रमा उसी रात को, जब संसारी प्रगाढ़ निद्रा में सो रहे थे, घर से बाहर निकली और सीधे प्रयाग स्टेशन पर आई। काशी का टिकट कटाया और काशी आ पहुँची। रमा अब अपने होश में न थी। वह अपनी निश्चयपूर्ति के लिये आतुर हो रही थी ?

काशीपुरी में प्रवेश कर रमा ने सोचा, चलो एक बार उस संसार-प्रसिद्ध मन्दिर में समाधिस्थ, शिव-स्वरूप शिलाखण्ड के दर्शन कर लूँ, जिसका त्रिशूल भोथरा और आँखें निस्तेज हो गयी हैं।

तीर की तरह रमा चली जा रही थी। उसकी चाल में एक गजब की सैनिकोचित स्फूर्ति आ गई थी। मुखाकृति पर एक आश्चर्य-जनक नशा सा छाया हुआ था। वह विश्वेश्वर के दरबार में पहुँचकर प्रार्थना करने लगी—"हे कलियुग के शंकर! तुम्हारी पतित्रा-पुत्री जिस अनुष्ठान को आरम्भ करने जा रही है, वह शीघ्र फलदायी हो।"

और, उस विश्वेश्वर ने उसकी प्रार्थना इतनी जल्द सुनी कि वह अभी गली के बाहर भी न हो पाई थी कि एक पूर्ण-वयस्का स्त्री,

काशी सिल्क की श्वेत साड़ी पहने, पान चबाए, मंद-मंद मुस्काती मंदिर की ओर आती दीख पड़ी। रमा की आँखें इससे मिलो नहीं कि वह झट पूछ बैठी—बेटी! तुम्हारा घर कहाँ है?

"कहीं नहीं"

"यहाँ आने का कारण?"

"कारण कुछ नहीं।"

"बेटी! संसार में अकारण कोई काम नहीं होता। मालूम होता है कोई भारी विपत्ति तुमको यहाँ तक घसीट लायी है। मेरा जहाँ तक अनुमान है, स्वार्थी समाज ही इसका कारण है। क्या तुम किसी के आश्रय की प्रतीक्षा में हो?"

"मिल जाय तो ठीक है वरना कोई चिन्ता नहीं।"

"अच्छा जरा रुको, मैं अभी दर्शन कर लौटती हूं।"

दर्शन कर वह वयस्का शीघ्र ही रमा के पास आकर बोली—चलो बेटी! मेरे घर?

"मैं तो चलूँगी ही, पर आप कौन हैं? मुझे कहाँ जाना होगा, क्या काम करना होगा, पहले यह तो बताइये।"

"यहाँ रास्ते पर अधिक बातें करना ठीक नहीं। मेरा घर पास ही है। वहाँ चलकर सब बातें बताऊँगी। अगर आपको मेरे घर का काम पसंद हो तो रहियेगा। आप विश्वास रखिए, आपके साथ किसी प्रकार का छल या विश्वासघात न होगा।

"छल और घात से डरने वाली औरत मैं नहीं हूँ देवीजी, खैर, चलिये।"

दस पन्द्रह मिनट के बाद रमा एक सुन्दर दो-मंजिले पोख्ते मकान के एक लम्बे कमरे में उपस्थित हुई। कमरे की लम्बाई, चौड़ाई से तिगुनी थी। कमरा बड़ा साफ-सुथरा और सम्पत्ति-शालियों के भवन-सा सुसज्जित था। जमीन पर कालीन बिछी थी और उसपर

चादर। यत्र-तत्र मशनद व गाव-तकिये पड़े थे। ऊपर छत में बूटेदार चाँदनी लगी थी। फर्श के एक किनारे मूल्यवान हाथी दाँत का शानदार पलंग पड़ा था, जिसपर मखमल का गद्दा बिछा था। सिरहाने और पायताने चार-चार मखमली तकिये रखे थे। कमरे की दीवार में थोड़ी-थोड़ी दूरपर ३।४ बड़े आकार के सुन्दर तैलचित्र लटक रहे थे। उनमें से एक चित्र पर लिखा था श्री० ललिता बाई, काशी।"

रमा ने देखा यह ललिता बाई ही उसे आश्रय देने वाली स्त्री है। इस पाप-प्राङ्गण की सुघराई, इसकी सुसज्जित निकाई आलोकित कर रमा अपने को भूल बैठी। विचारों के प्रबल उत्थान-पतन के बीच वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी। वह सोच रही थी—इस मर्त्य-लोक में भी लोग इस तरह स्वर्ग का आनन्द उपभोग करते हैं? वाह! कैसी बेफिक्री है यहाँ? कितना विपुल वैभव, आश्चर्य-जनक ऐश्वर्य है। बस ठीक है! कामी पुरुषों को अपने बाणों का लक्ष्य बनाने के निमित्त यह सुरक्षित अजेय दुर्ग अति उत्तम है। विश्वनाथ तुम्हारी जय हो, बड़ी जल्दी प्रार्थना सुनी तुमने।"

रमा ने जब पापमय वातावरण का भली-भाँति अध्ययन कर लिया, तब ललिता बाई उसके निकट आ अत्यन्त स्नेहभरे स्वर में बोली—"अब तो समझ गई होगी, कि मैं कौन हूँ और आपकी मुझे किस काम के लिये आवश्यकता है? ऐसा रूप, ऐसी शोभा और ऐसा मादक यौवन लेकर आप इन चिथड़ों में लिपटी दर-दर की खाक छानती फिरें क्या यह उचित है। बस यहीं रहिये, घर आपका है। हम दोनों आनन्दपूर्वक जीवन के शेष दिन व्यतीत करेंगीं। यह पाप-पुण्य तो एक धोखा है, हम अबलाओं को अपनी दासी बनाने का एक बहानामात्र है, अपना उल्लू सीधा करने की एक पेचीली युक्ति है। मैं इस नगरी के एक-एक धर्मात्माओं को—जिनके ललाट

से कभी चन्दन नहीं मिटते, गले से कंठी-माला कभी दूर नहीं होती, भली तरह जानती हूँ। ये लोग इस घर में—जिसका नाम उन्होंने "पाप भवन" रखा है—आ-आकर अपने धर्म-प्रेम का जैसा घृणित परिचय दे जाते हैं वह अकथनीय है। मेरा अनुभव है इन नामधारी धर्मात्माओं से एक शराबी, वेश्यागामी कहीं अच्छा है। और हाथ कंगन को आरसी क्या! अगर आप इस घर में रहीं, तो खुद सारी बातें अपनी आँखों देख लेंगी। कैसे धर्म-प्रेमी, कैसे-कैसे सुधारक आपके तलवे चाटने आते हैं।"

"आप बुरा न मानें, ईश्वर और धर्म किसको प्यारे नहीं? कौन अभागा पवित्र जीवन यापन नहीं करना चाहता? परन्तु आपका यह पतित समाज, बधिक पुरुष, सत्यानाशी रीति-रिवाज हम हिन्दू-कुल ललनाओं को अपने धर्म पर कब टिकने देती हैं? भाँत-भाँति के छल प्रपंच और प्रलोभनों में हमें फँसाकर हमारी मिट्टी बर्बाद की जाती है। यदि मेरा अनुमान सच है तो मेरे इन कथनों का अनुभव दुर्भाग्य-वश आपको इसी अल्पावस्था में हो गया होगा। कहिये क्या मैं ग़लत कह रही हूँ?"

"जी नहीं, आपका सारा कथन अक्षरशः सत्य है! आपकी सारी आज्ञायें मुझे सहर्ष शिरोधार्य हैं, पर एक शर्त पर।"

सोत्सुक ललिता बाई बोली—"हाँ, हाँ, कहिये वह कौन सी शर्त है आपकी।"

"—शर्त यही है कि किसी पुरुष से घनिष्टता स्थापित करना मेरे अधीन रहेगा।"

"मुझे स्वीकार है!"

"परन्तु नृत्यकला और गान विद्या से तो मैं बिल्कुल अन-भिज्ञ हूँ।"

"आप इसकी चिन्ता न करें। आपका मस्तिष्क तेजस्वी है।

केवल चार पाँच मास की शिक्षा ही आपके लिये पर्याप्त होगी। मुझे विश्वास है कि बनारस की अच्छी से अच्छी नर्तकियों से आप शीघ्र बाजी मार ले जायगीं।

२२

रमा अब रमा न थी, वह अब थी काशी की सुप्रसिद्ध, सुसम्पन्न गणिका ललिताबाई की एकमात्र पोष्यपुत्री। रमा का रूप, चाल-चलन, आचार-विचार पहरावा आदि सभी बदल गया। अब वह चम्पाबाई है जिसकी चर्चा वेश्या-समाज में धूम मचाये थी। जिस समय वह सुसज्जित हो अपने कोठे पर बैठती, राहगीर उसके सौन्दर्य को आवद्ध दृष्टि से देखते रह जाते। और वह इन कुत्तों को देख-देख कर आलोम फुलकित होती, क्योंकि अब वह भी तो यही चाह रही है, कि उसका सौन्दर्य उनके दिलों में तीर की तरह बिंधे।

रमा को उस घृणित प्राप-प्राङ्गण में कुशिक्षा तथा विलासिता के वातावरणों में रहते दो वर्ष बीत गये। तीसरे वर्ष के प्रारंभ में उसकी वाग्दत्ता माता ललिता बाई विकराल रूप से ज्वराक्रान्त हुई। रमा बड़ी तत्परता से ललिता बाई की सेवा-सुश्रूषा करने लगी, पर बीमारी सुधरी नहीं। दिन-दिन बिगड़ती गई। एक दिन ललिता बाई ने रात में रमा को अपने निकट बुलाया और कहा—"बेटी! अब तो मेरी चलने की तयारी है। कदाचित् यह धन मैंने तुम्हारे ही लिये जोड़ रखा था। यह सम्पत्ति एक बहुत बड़े महाराजा की है। उन्होंने मेरा सर्वस्व हरण कर यह थाती दी थी। उनकी मृत्यु के बाद मैंने अपने जीवन-प्रवाह को बदलना चाहा परन्तु मदान्ध हिन्दू समाज

ने मुझे उपेक्षा की दृष्टि से देखा। विवश हो मुझे वेश्या-वृत्ति में लिप्त होना पड़ा। भोग-विलास में सतत लिप्त रहने से कोई सुख नहीं पा सकता, यह तुम्हारी इस पापिनी माता के ४५ वर्ष के वेश्या-जीवन का अनुभव है। और बेटी, अपनी इस अधम माता के मृत्यु-समय की यह बात कभी न भूलना कि अब संसार में प्रीति-प्रेम कहीं नहीं है, केवल स्वार्थ है, छल है, दंभ है, विडम्बना है। जबतक रूप है, यौवन है, हजारों कुत्ते दरवाजे पर दुम हिलाते गश्त लगा-ऐंगे, पर जब रूप और जवानी समाप्त हो जायगी, ये कुत्ते तुम्हारी ओर आँख उठाकर भी न देखेंगे। बेटा! यह ठीक है, संसार अभी भले आदमियों से रिक्त नहीं पर उन्हें भलीतरह देख लेना, परख लेना, तब अपना यह बहुमूल्य हृदय किसी को सौंपना। आतुरता में अपना सत्यानाश आप न कर लेना। एक से एक सुन्दर, विद्वान और बुद्धिमान नवयुवक तुम्हारे पास "कैस," "फरहाद" बनकर आयेंगे, प्रेम-निर्वाह की भीषण प्रतिज्ञा करेंगे, पर समय पर "ढाक के तीन पात" ही निकलेंगे। लो यह खजाने की कुञ्जी है। उसमें कुछ मुहरें, रुपये, नोट और आभूषण हैं, यह सारी सम्पत्ति कम से कम ५०—६० हजार की है। उसी रुपये वाली तिजोरी में तुम्हारे नाम का "वसीयतनामा" है। शायद भविष्य में तुमपर कोई संकट न आजाय और मेरी सम्पत्ति किसी दूसरे के हाथ न चली जाय, इसलिये मैंने आज से ६ मास पूर्व ही बाजाप्ता कार्यवाही कर रखी थी। मेरे मरणोपरान्त यदि यहाँ तुम्हारा जी न लगे तो, कहीं और जगह चली जाना। मकान भाड़े पर दे देना। प्रिय बेटी! मैंने अब तक तुमसे एक बात छिपा रखी थी, वह यह कि मैं भी ब्राह्मण-पुत्री हूँ और तुम्हारी ही जाति की।

रमा फूट फूटकर रोने लगी। ऐसी सहृदया मातृ-तुल्य सहायिका का सदा के लिये विछोह उसे असह्य हो गया। रमा के आर्तनाद

से ललिता बाई दयार्द्र हो उसके मस्तक पर प्यार से हाथ फेरती हुई बोली—बेटी, शान्त हो! "आया है सो जायगा, राजा-रंक फकीर" इस सृष्टि का यही नियम है। यह संसार झूठा है। इसकी सारी विरासतें झूठी हैं, अन्त में सब की एक ही गति है—मृत्यु। बेटी, मैं बड़े आनन्द और शान्ति से मर रही हूँ। मैं तुम्हारे सद्व्यवहारों तथा सुआचरणों से परम प्रसन्न और अति संतुष्ट हूँ। मेरे भाग्य अच्छे थे, जो तुम सी सत्पात्र लड़की मेरे अंतकाल में मुझे मिल गई। कदाचित् भगवान शंकर ने मुझे तुम्हारे ही मिलन की प्रतीक्षा में इन दो वर्षों तक जीवित रखा था। न रोओ बेटी! प्रसन्न होओ, और इसलिये कि इस पापोद्यान का एक अधम बागवान, इस नारकीय कारखाने की एक नीच संचालिका का आज इस पुण्यमयी पृथ्वी से सदा के लिये अंत हो रहा है। खुश रहो। विश्वनाथ तुम्हें सानन्द रखें। मेरे मुख में तुलसी, गंगाजल दो और मुझे शिवविवाह पढ़कर सुनाओ। आज तो मेरा व्याह है। बस, अब मैं अपने उसी सच्चे पति के समीप जा रही हूँ। ओह! इस व्याह में चिरानंद है, सतत संयोग है और दीर्घ शान्ति है। पगली! मंगल के समय रोना कैसा! गाओ, गाओ, मेरे विवाह के गीत गाओ। लो जल्दी करो।

रमा अवरुद्ध कंठ से रामायण का 'शिव-विवाह' पाठ पढ़ने लगी। परन्तु उधर वह विश्वनाथ की परमोपासिका गणिका अपने व्याह के चिरानन्द में लीन हो गई।

एक सुन्दर 'अर्थी' पर वैवाहिक परिधानों से सजाकर ललिता बाई गंगा की गोद में सदा के लिये विसर्जित कर दी गई।

२३

रमा अब बड़ी शान से प्रयाग के एक चतुष्पथ पर मकान लेकर रहने लगी। उसके जीवन में आश्चर्य-जनक परिवर्तन हो गया है। अब वह एक सुसम्पन्न और प्रयाग की प्रसिद्ध वेश्या है। आज जब उसने अपने धर्म, मानापमान और मर्यादा पर बुरी तरह पादप्रहार कर सर्व-प्रकार स्वतंत्र हो, इस घृणापूर्ण जीवन को गले लगाया, तो यही जाति, यही समाज और इसी देश के धर्मात्मा नामधारी सज्जन जिन्होंने उसे कुलटा बताकर समाज वहिर्गत किया था—उसे अपनी प्रियात्मा, आराध्या समझने लगे। रमा हँसती—कैसा पतित समाज है, जो अपने नाश में ही कल्याण देख रहा है! चन्दन को फेंककर जूते की खाक सर पर रमा रहा है!

रमा के कोठे के नीचे 'नरक की नंगी तस्वीरें अपना नङ्गा नाच दिखाने लगीं। कोई बड़ी ऐंठ से उसके कोठे की बगल से निकल जाता, कोई पान खाने के बहाने वहाँ आ टिकता और मजा यह, जो आता खूब सज-सजाकर, दूल्हा बनकर। रमा इन विलास की काली मूर्तियों को देख होटों में मुसकरा देती। फिर क्या पूछना, इनकी वांछनायें खिल उठतीं!

एकदिन रमा के कोठे पर प्रयाग के प्रसिद्ध धनाढ्य तथा वेश्या-भक्त लाला रामलाल मलमल का कुर्ता, लखनौवे पल्ले की पालिश की हुई टोपी तथा कंधे पर जरीदार डुपट्टा डाले आ धमके। रमा इनकी गुणगाथाओं से भली-भाँति परिचित थी। अकस्मात इन एलाहा-

बादी वृद्ध रईस को अपने प्रकोष्ठ में उपस्थित देख नम्रता-पूर्वक वह बोली—हुजूर की बड़ी कृपा ! आइये, विराजिए ।

'धन्यवाद ! बड़ी-बड़ी तारीफें सुन रहा हूँ, आपके रूप गुण और गाने की । बेशक आपने एक परीका रूप पाया है । ईश्वर इस हुस्न को ताकयामत कायम रखें । हाँ, आपका इस्म मुबारक ?'

रमा उन्हें बार-बार झुक-झुक कर बाकायदा बंदगी करती—हुजूर की यह साहबदिली है जो मुझसी एक नाचीज को यह इज्जत एनायत कर रहे हैं । खादिमा का नाम "चम्पा" है ।

"—चम्पा—! वाह-वाह, क्या कहना है ?"—वह बूढ़ा खुशामद का दामन पकड़े, बड़ी खुशी से बोला—बस, जैसा आपका सुन्दर नाम है, वैसा ही खूबसूरत चेहरा भी है । जरूर किसी आलिम सख्श ने आप का ऐसा सुन्दर नाम चुनकर रखा है ! चम्पा—वाह, क्या ही मीठा नाम है—!"

लाला जी जमकर मनसद के सहारे बैठ गये । रमा भी उनसे कुछ दूर आज्ञाकारिणी के भाव से बाअदब बैठी । क्षणों में लाला जी ने अपनी अंटी से नोटों का एक मोटासा बंडल निकाल बड़े उपेक्षा-पूर्ण भावों से रमा के सम्मुख, रद्दी कागज की नाईं फेंकते हुए कहा—हाँ, पान—वान मँगवाइये ?

रमा बोली—हुजूर । भला इतने रुपयों के पान कौन खायेगा । फिर हुजूर बाँदी के झोपड़े पर तशरीफ लाये हैं, यह फर्ज तो मेरा है ।

लालाजी—खैर, आप अपना फर्ज कभी अदा कर लीजिएगा, पर इस वक्त अपनी आराध्या देवी के चरणों में पत्र, पुष्प चढ़ाकर उन्हें प्रसन्न करना तो मेरा ही फर्ज है ।

परन्तु रमा ने इन नोटों का स्पर्श तक नहीं किया और अपने नौकर को पान लाने की आज्ञा दे दी ।

अब लाला जी थोड़ा और आगे बढ़े, और बड़ी रसिकता-पूर्वक बोले—अभी तो देखता हूँ नाक में—"

रमा—जी हाँ !

साङ्केतिक शब्दों में मन की बात तो हो गई, पर लाला जी इस अखाड़े के पुराने अखड़ैत थे, वे और बढ़े—"तो कबतक—!"

रमा—अभी कोई निश्चय नहीं पर हाँ, कम से कम पाँच वर्ष तो अवश्य लगेंगे। इतनी लम्बी मियाद के इन्तजार में आस लगाये, लालाजी असार संसार में कबतक बैठे रहते! उनके नाम तो खुदा-खाना से "वारंट-गिरफ्तारी" जारी हो चुकी थी, फकत चपरासियों को उनके पास पहुँचने भर की देर थी। वे बड़े खिन्न स्वर में बोले—काफी लम्बा टाइम रखा है आपने!

रमा—जी हाँ, क्या करूँ मजबूरी है!

लाला—क्या मजबूरी है, फरमाइये तो। यदि रूपये-पैसे की बात हो तो मैं मुँहमाँगा आपकी जान के वास्ते देने को हाजिर हूँ।

रमा—जी नहीं, रुपये-पैसे की क्या बात है! मजबूरी जो है। क्षमा चाहती हूँ।

लाला—खैर, आज न सही कहिये कल आऊँ, परसों-तरसों आऊँ।

रमा—आने को तो हुजूर का मकान है, मेरा अहोभाग्य जो हुजूर के रोज दर्शन मिलें। मगर हुजूर इस काम के लिये तो कमसे कम ५ वर्ष बाँदी को जरूर बख्शें। हाँ, हुक्म हो तो गाना सुनाऊँ।

"जी नहीं—" उपेक्षा से लाला जी बोले—"मुझे गाना-वाना सुनने का कोई शौक नहीं।

रमा—अफसोस! मैं हजूर की कोई खिदमत न कर सकी।

लाला जी कुछ क्षण निर्वाक बैठे रहे, फिर वे एकाएक उठे और जोड़े में पाँव डाल, रमा के अभिवादन का कुछ उत्तर दिये बिना ही

इस तेजी से जीने से उतरे, मानों यहाँ उनका कोई भयानक अपमान हो गया हो।

इस कामान्ध बुड्ढे के क्रोधपूर्ण प्रस्थान से रमा डरी नहीं बल्कि वह इस खूसट की बातों पर खूब ठठाकर हँसी।

एक दिन सन्ध्या को रमा के कोठे पर एक दूसरी "पार्टी" पहुँची। ५ नवजवान थे, जो देखने में किसी विद्यालय के विद्यार्थी से मालूम हो रहे थे। सभी मैनचेस्टर के बारीक वस्त्रों से आच्छादित थे, प्रायः सभी समवयस्क थे। वे वेश्यागमन अथवा रस-रंग के आनन्द लेने कोठे पर नहीं आये थे। आये थे गान-वाद्य जैसी उत्कृष्ट-कला का परिचय पाने, अनुभव प्राप्त करने, रमा से इन्होंने ऐसा ही कहा था।

इन कला प्रेमियों की यह कला-पूर्ण 'पार्टी' नित्य नियमपूर्वक, रमा के कोठे पर पहुँचने लगी और रोजही अपने १४। १५ रुपये स्वाहा कर जाती। रुपया, विशेषतः शान्तिस्वरूप नामक युवक की ही जेब से निकलता। और यह शान्तिस्वरूप शुद्ध प्रेम की परिभाषा बड़ी ही लच्छेदार, मर्मपूर्ण भाषा में करता। वह कवि था, अतः ऐसी-ऐसी उपमा-उपमेय से शुद्ध स्नेह की सत्ता, उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आदि करता कि एकबार रमा का भी जी अपने वर्तमान कपटाचारपूर्ण जीवन से ऊब उठता। शान्तिस्वरूप की यह प्रणय-व्याख्या, प्रेम का यह विश्लेषणवाला व्याख्यान रोज चलता था।

रविवार का दिन था, उस दिन शान्तिस्वरूप मध्याह्न में ही रमा के कोठे पर पहुँचा। रमा उस समय अपने बाहर वाले कमरे में बेखबर सोई पड़ी थी। शान्तिस्वरूप ने आज ही रमा की रूप-माधुरी जी भर देखी। ऐसा मोहक और मादक रूप निर्निमेप नयनों से निहार कर, शान्तिस्वरूप की शान्ति भंग हो गई। उसके कुत्सित आकर्षण की प्रेरणाओं ने उसे उन्मत्त बना दिया। वह अपने शरीर की सारी शक्ति हृदय में केन्द्रित कर, बड़े साहस से रमा के पलंग पर धीरे से

जा बैठा। किन्तु जानें क्यों, एकाएक उसका हृदय स्पंदित हो उठा। किसी अज्ञात भय के कारण वह अति शीघ्र पलंग से उठ, दूर खड़ा हो काँपने लगा। पुनः क्षणों के बाद ही वह फिर पलंग पर जा बैठा, मानों उसकी अन्तरात्मा में कोई अन्तरिक शक्ति का जागरण हुआ हो। और उसने रमा के दोनों हाथों को बड़ी अधीरतापूर्वक चूम लिया। उसके इस आचरण से रमा घबराकर उठ बैठी। वह इस नरपशु को देखते ही क्रोधोन्मत्त हो गई।

अग्नेय-नेत्रों से उसको घूरती हुई कड़क कर बोली -- आपने ऐसी नीचतापूर्ण निर्लज्जता करने की धृष्टता क्यों की? बस, आज से आप यहाँ अपना पैर न रक्खें। मैंने समझा था आप लोग पढ़े-लिखे भले आदमी होंगे। अभी नवयुवक हैं हृदय में लज्जा होगी, संकोच होगा और साथ ही कुछ सुधारक विचार होंगे, परन्तु देखती हूँ इसके बिलकुल विपरीत। भारत का सारा पुरुष-समाज, क्या मूर्ख, क्या विद्वान, पशु-प्रवृत्ति परायण हो गया है, इसका प्रमाण आपने प्रत्यक्षतः देकर मेरी भूल सुझा दी।

रमा की विकराल मूर्ति देख शान्तिस्वरूप के होश उड़ गये। मस्तिष्क से पसीने की बूँदें टपकने लगीं। किंकर्तव्य-विमूढ़ हो वह रमा के पैरों पर गिर पड़ा। प्रायश्चित-स्वरूप हाथ की अँगूठी और जेब में पड़े सब रुपये उसके सामने रखते हुए वह बोला—क्षमा करिये, मुझसे अपराध हुआ। परन्तु मुझे इस तरह न ठुकराइये। मैं आपको हृदय से प्रेम करता हूँ।

रमा मन ही मन खिलखिला उठी। पुरुष जाति पर उसकी विजय-प्राप्ति का यह प्रथम शुभ अवसर था। वह भी एक दिन, इन्हीं पुरुष जातियों में से, एक के चरणों पर अपने जीवन का सर्वस्व देकर, इसी भाँति रोई थी, गिड़गिड़ाई थी, प्रार्थनाएँ की थीं। उस पुरुष जाति की ऐसी दुर्गत—मूर्ति आलोकित कर रमा का रोम रोम

पुलकित हो गया। उसे अपने इस घृणित अनुष्ठान की महत्ता आज प्रत्यक्ष दृष्टिगत हुई। वह शान्ति-स्वरूप को उठाती हुई बोली—"बेशक, आप अपनी प्रेम-परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। आपही जैसे हृदय वाले युवक की मुझे आवश्यकता थी। और रुपये—! रुपये की मुझे आवश्यकता नहीं, ले जाइये इन्हें।" रमा के इस कथन में व्यंग था।

शान्तिस्वरूप मानों रङ्क से राजा बना। उस मन्दान्ध ने रमा के व्यङ्ग को ठीक रूप में समझा और वह हर्ष-विह्वल हो बोला—आप की दया के लिये अनेक साधुवाद! और रुपये—! रुपये तो आपको रखने ही होंगे। गैरमुमकिन है, जो मैं इन्हें वापिस ले जाऊँ। रुपये उसने स्वयं रमा के आलमारी में रख दिये।

अब शान्तिस्वरूप की आन, वान और शान कुछ निराली हो गई। वह खूब ठाठ से रहने लगा। रमा के प्रेम की चर्चा वह अपने मित्रों में बड़े गर्व से करने लगा। उसका यह अपूर्व अभ्युदय मित्रों के कानों में तप्त-तेल की भाँति पड़ा। कितने इससे ईर्ष्या करने लगे। उसका एक मित्र मदन मोहन चटर्जी तो इतना जला एक दिन उसने महमूद को—जिसका बाप, पुलिस का विख्यात इन्सपेक्टर था—उभाड़ा। बोला, यार शान्तिस्वरूप बड़ी शान से हमलोगों से बातें करता है और हमलोगों को लज्जित करता है। वाकयी, यह हमारे तुम्हारे लिये डूब मरने की बात है। भाई महमूद तुम्हारे पिता एक उच्च ओहदेदार हैं, इन दोनों प्रेमी-प्रेमिकाओं की आन मिट्टी में मिला देना, तुम्हारे लिये कोई बड़ी बात नहीं!

महमूद भी मुस्तैदी से बोला—हाँ, मेरी भी ऐसी ही ख्वाहिश कुछ दिनों से हो रही है कि मैं इन्हें बता दूँ, मैं कौन हूँ। शान्त स्वरूप इधर सचमुच बड़ी-बड़ी डींगें हमारे सामने हाँकने लगा है। वह समझता है, मैं मुंसफ का बेटा, रुपयेवाला व बड़ा हसीन हूँ। मैं चाहता हूँ, एक दिन शहर के अपने कुछ गुण्डे दोस्तों को लेकर

'बनारसवाली' के कोठे पर चढ़ जाऊँ जब शान्ति स्वरूप भी वहाँ मौजूद हो। वहाँ पहुँचकर "बनारस वाली" को मजबूर करूँ कि वह शान्तिस्वरूप को निकाल बाहर कर दे, अगर वह "ना-नू" करे और शान्तिस्वरूप भी टलने से इनकार करे तो बस, दोनों की नाक सफाया कर दी जाय। क्यों, कैसा "प्रॉपोजल" है ?

"बस, बस, क्या कहने! निहायत आला "प्रॉपोजल" है। खुशी में बाँसों उछलता मदन मोहन बोला।

दूसरे दिन सन्ध्या के सात बजे, जब शान्तिस्वरूप रमा के कोठे पर चढ़ने लगा, महमूद ने अपने गुण्डे साथियों को बताया,—देखो, वही शान्तिस्वरूप है, इसी की नाक काटनी होगी।"

शान्तिस्वरूप धड़धड़ाता हुआ कोठे पर चढ़ गया, पर वहाँ एक दूसरे सज्जन गाना सुन रहे थे, अतः वह रमा के शयनकक्ष में बैठ प्रतीक्षा करने लगा। बदमाशों का गिरोह कोठेपर धंस पड़ा और वे जाते ही बोल उठा—"बस, बन्द करो गाना-बजाना, सब भागो यहाँ से।"

रमा तो इन बदमाशों के रङ्ग-ढङ्ग देखते ही ताड़ गई, ये अवश्य यहाँ कुछ उपद्रव मचाने की गरज से आए हैं। वह चुप हो गई। गान-वाद्य बन्द होगया। परन्तु वे सज्जन, जो गाना सुन रहे थे, कोई ऐरे-गैरे नहीं बल्कि एक प्रतिष्ठित सरकारी अधिकारी थे। इससे उन्हें अपनी शान में बट्टा लगता जान पड़ा। वे क्रोध में गुण्डों को डपटते हुए बोले—तुमलोग कौन हो ? याद रखो मैं एक-एक को न छोड़ूंगा, सबों को पुलिस के हवाले कर दूँगा वर्ना चुपचाप निकल जाओ।

गुण्डे शान्तिस्वरूप की सूरत से पूरी तरह परिचित न थे। पहले पहल उन्होंने आज ही शान्तिस्वरूप को कोठे पर चढ़ते देखा था, सो भी दूर से और कुछ क्षण। महमूद नीचे ही खड़ा बाहरी आक्रमण—पुलिस आदि के निरीक्षण के निमित्त सड़क पर चक्कर लगा रहा

था। गुण्डों ने समझा, यह शान्तिस्वरूप के सिवा दूसरा होगा कौन! वे उस अधिकारी महाशय पर बाज की तरह टूट पड़े। रमा भागी और साथ ही उन अधिकारी जी के हितकारी मित्र-वर्ग भी।

इधर बेचरा अकेला अधिकारी उन आधे दर्जन गुण्डों के परोक्ष में कबतक टिकता, थक कर गिर गया। बदमाशों ने झट एक तेज छूरे से उसकी नाक काट ली। वह बेचारा "बाप-बाप" चिल्लाता फर्श पर तड़पने लगा। अब बदमाश रमा की खोज में लगे कि इतने में घबराया-सा महमूद ऊपर आया और बोला—भागो, भागो, पुलिस का एक बड़ा दल आ पहुँचा है।

मगर महमूद ज्यों ही अपने साथियों सहित धड़धड़ाता हुआ नीचे उतर रहा था कि वह जीने पर ही अपने साथियों सहित गिरफ्तार हो गया।

पुलिस ऊपर कोठे पर पहुँची। दारोगा ने देखा—साहेब अपनी कटी नाक के लिये बड़ी बेचैनी से करवटें बदल रहे हैं। दारोगा ने उनका बयान लिया। रमा और शान्तिस्वरूप भी उपस्थित हुए। उन्होंने भी इन अधिकारी महोदय के बयान का समर्थन किया। और जब महमूद की नजर शान्तिस्वरूप की सही-सलामत नाक पर पड़ी तो वह सहसा पागलों की तरह मन ही मन बड़बड़ा उठा—बदनसीबों! तुमने यह क्या किया, यह मूजी शान्तिस्वरूप तो बच ही गया! अफसोस!

महमूद ने गुण्डों को यह सब्ज बाग दिखला कर इस कुकर्म पर तत्पर किया था कि तुमसे बोलेगा ही कौन? मैं पुलिस इन्सपेक्टर का बेटा हूँ! किसकी हिम्मत है जो मेरे आदमियों को पकड़ ले। मूर्ख, लोभी गुण्डे उसकी बातों में आ गये। चाँदी के चन्द गोल-गोल टुकड़ों ने उन्हें विचलित कर दिया। पर यहाँ इन अभागों को लेने के देने पड़े।

यथा समय अभियोग चला। गुण्डों को चार वर्ष कठोर कारावास का दण्ड मिला और दोनों मित्रों को आजन्म कालेपानी।

२४

प्रयाग के "सिनेमा-हाउस" में उस दिन रमा अपनी शानदार जोड़ी पर सवार हो, अपनी दासियों सहित सिनेमा देखने गई। रंजीत का बड़ा सुन्दर फिल्म था—"देवी-देवयानी"।

परन्तु रमा ने जो दृश्य यहाँ देखा, उससे आलोम काँप उठी। उसके मस्तिष्क में तूफान-सा उठ खड़ा हुआ। उसे ऐसा ज्ञात हुआ जैसे सारी पृथ्वी उसके पैरों के नीचे से खिसकी जा रही है। उसने देखा, उसका रघुबीर जिसकी प्रेम-प्रतियोगिता के कारण उसे बाध्य हो वेश्या बनना पड़ा था, जेनी से हँस-हँसकर बातें करता हुआ सिनेमा कम्पाउण्ड में टहल रहा है और रघुनाथ बड़ी दीन-मुद्रा बनाये, सेवक के सदृश इनके पीछे-पीछे घूम रहा है। रामा बार-बार विस्फारित नेत्रों से देखती थी फिर भी उसे अपने रघुबीर की साधुता तथा आचरण पर ऐसी सुदृढ़ आस्था थी कि उसे विश्वास नहीं होता था। पर उसकी मोहान्धता उसे अधिक देर तक अन्धेरे में न रख सकी। आप ही उसका हृदय हाहाकार कर उठा—

"—रघुबीर! मेरे रघुबीर जैसा साधु पुरुष भी इस नरक में—! हाय रे, कलयुग की हवा—! किन्तु रघुनाथ की यह कैसी दशा—? क्या जेनी ने इस अभागे को त्यागकर अब रघुबीर को ही अपना प्रेम-पात्र बनाया है? उफ्—कितना वीभत्स दृश्य है।"

रमा का कण्ठ सूखने लगा। इन विचारों ने उसके हृदय में जैसे दावाग्नि प्रज्वलित कर दी। अपने बालसखा रघुबीर के इस अधःपतन को आलोकित कर वह पागल की भाँति शीघ्रतापूर्वक जोड़ी से उतर-कर उसी ओर चल पड़ी, जिधर जेनी रघुबीर का हाथ पकड़े आनन्द-पूर्वक घूम रही थी।

सहसा रमा ने सुना, एक युवा रघुबीर से कह रहा है—"देखिए, यही बनारसवाली है" जिसके कोठे पर...साहेब की नाक कटी थी और महमूद आदि व्यक्तियों को आजन्म कारावास का दण्ड मिला है।" रघुबीर ने एक उपेक्षाभरी-दृष्टि रमा पर डालकर शीघ्र ही दृष्टि फेर ली। रमा, रघुबीर की—उस रघुबीर की जो कभी उसका अनन्य पुजारी था, एकान्त उपासक था—ऐसी उपेक्षा-दृष्टि आलोकित कर मर्माहत हो उठी। उसे मालूम हुआ जैसे उसका हृदय खण्ड-खण्ड हो गया हो। परन्तु जिस प्रकार अपनी कोई खोई-चीज कालान्तर के पश्चात् किसी गैर के हाथों में देख, आदमी किसी विद्युत्-आकर्षण से उसके निकट खिंचकर हठात् चला जाता है, उसी प्रकार रमा आप ही आप खिंचकर रघुबीर के निकट चली गई और बोली—"क्यों हुजूर, शो कब आरम्भ होगा, आपको कुछ मालूम है?"

उस पतित नारी की ऐसी उद्दण्ड धृष्टता पर रघुबीर को मन ही मन बड़ा क्रोध हुआ। वह रमा को सरोष नेत्रों से देखता हुआ बड़े रुक्ष स्वर में बोला—मुझे क्या मालूम! मैं सिनेमा का अधिकारी थोड़े हूँ!" फिर वह बड़ी तेजी से एक ओर निकल गया।

रमा के हृदय पर मानो वज्रपात हुआ। आत्म-अपमान की इस असह्य मर्मवेदना को लिये वह वापस लौटी। उसे लौटती देख, रघुबीर युवा से बोला—"ये निर्लज्ज औरतें वास्तव में बड़ी विचित्र होती हैं! जरा इसकी शैतानी तो देखो, अपरिचित व्यक्ति से प्रश्न करते इसे रंचमात्र भी संकोच न हुआ! छिः—!" रमा ने रघुबीर

के इन शब्दों को भी साफ सुना। परन्तु अब वह अपनी जोड़ी पर थी।

रमा को जोड़ी पर सवार होती देख, रघुनाथ जो अबतक रघुबीर के पीछे-पीछे घूम रहा था—जोड़ी के निकट पहुँचा। रमा के रूप-परिवर्तन से उसे अबतक न पहचान सका था। परन्तु उसकी माधुर्य-मिश्रित वाणी, जिसे वह डेढ़ दो वर्ष की लम्बी अवधि तक अहर्निशि सुन चुका था—न भूल सका था। उसे साफ मालूम हुआ, यह रमा है।

रघुनाथ को अपनी जोड़ी के निकट खड़ा देख, रमा भी समझ गई—"रघुनाथ मेरी आवाज सुनकर मुझे पहचान गया है। किन्तु रघुबीर, जिसके साथ मैंने अपने किशोर-जीवन के कई वर्ष व्यतीत किये थे, मुझे न पहचान सका। सम्भव है, उसकी स्मृति में मैं पतित हो गई होऊँ। पर हाय—! रघुबीर, मुझे भूल जावे, यह कैसा विधि-विधान है। रमा के नेत्र सजल हो गये।

इसी समय रघुनाथ पूछ बैठा—क्या मैं आपका शुभनाम जान सकता हूँ?

रमा चुप रही।

रघुनाथ फिर बोला—क्यों, क्या नाम बताने में आपको कोई आपत्ति है?

रमा ने अपनी दासी के कान में कुछ धीरे-धीरे कहा। उसकी दासी स्मित करती हुई बोली—क्यों जनाब, आप नाम जानने के लिये इतने अधीर क्यों हो रहे हैं? आप पुलिस के गुप्तचर तो नहीं? हमलोग बागी या बसवाली नहीं हैं।

"नहीं नहीं, आप हँसी न उड़ायें। मैं पुलिस का आदमी नहीं। मैं तो अभी विद्यार्थी हूँ।"

तब तो और मजे की बात है, आप एक विद्यार्थी होकर एक

वेश्या से परिचय पाने के लिये इस तरह लालायित क्यों हो रहे हैं ? क्या, आप कोई "कवि" या "कलाकार" हैं ?

"जी नहीं, मैं दोनों में से एक भी नहीं। मैं केवल इनका नाम जानना चाहता था अवश्य।"

"मगर निष्प्रयोजन तो जानना चाहते न होंगे ?"

"जी हाँ, मतलब से ही पूछ रहा हूँ।"

"तो मतलब ही फरमाइये, नाम से क्या काम ?"

"मतलब नाम सुनकर ही अर्ज करूँगा।"

"इनका नाम चम्पाबाई है।"

"सो तो मुझे मालूम है, मगर इनका असली नाम क्या है ?"

"आप जो भी समझें पर इनका नाम यही है।"

रघुनाथ समझ गया, रमा अपना परिचय देने के भय से स्वयं न बोलकर अपनी दासी से प्रत्युत्तर करा रही है। अतः उसने इसबार बड़े मौके का तीर छोड़ा—क्योंजी, आपकी चम्पाबाई हम जैसे साधारण आदमियों से बोलने की कृपा नहीं करतीं क्या ?

"कोई भी उत्तर दे, आपको तो अपने प्रश्नों के ही उत्तर से मतलब है, या और कुछ चाहते हैं ?"—दासी ज़रा मुस्करा पड़ी।

"जी नहीं हम गरीबों को ऐसा साहस कहाँ कि आप से कुछ अधिक पाने की आशा करें।"

रमा ने पुनः दासी के कान में कुछ कहा, दासी बोली—क्यों साहेब, भला आप मेरी एक बात का उत्तर दे सकते हैं ?

अविलम्ब रघुनाथ बोला—अवश्य कहिये।

अच्छा जो महाशय उन मेम साहबसे हाथ मिलाये घूम रहे थे, उनका नाम क्या है ? वे आपके कौन होते हैं ?

स्मित हास्ययुक्त रघुनाथ बोला—वे महाशय सचमुच बड़े उदार-हृदय हैं। कदाचित "बनारस वालों" उन्हें कुछ का कुछ समझ

गई है, इसी कारण उसकी उत्सुकता बलवती हो गई है। उनका नाम है पंडित रघुबीर नारायण पाण्डेय, एम० ए० काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न। आप बड़े ही तेजस्वी पुरुष तथा मेधावी विद्वान हैं। आपके प्रखर पाण्डित्य का लोहा सारा प्रयाग मानता है। आप बिहार के रामपुर नामक ग्राम के निवासी और जाति के ब्राह्मण हैं। दो वर्ष हुए आपने मेरे ही कालिज से एम० ए० पास किया है। मेरे कोई सम्बन्धी नहीं, कालेज का ही साधारण-सा परिचय है।

तभी तो वे महाशय अपनी तेजस्विता और प्रतिभा के प्रकाश से एक छोकड़ी को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न कर रहे थे।" दासी के उपरोक्त शब्दों में व्यंग था।

रघुनाथ दासी के इस व्यंग से कुछ उत्तेजित हो गया, बोला—दूषित वातावरण में रहते-रहते आप लोगों के विचार भी कलुषित हो जाते हैं। आपने जो कुछ धारणा उनके प्रति करली है, वे निर्मूल हैं। वे मिशन स्कूल के प्रधानाध्यापक है, और उनके सदाचार तथा सद्व्यवहार पर ही प्रसन्न होकर पादरियों ने अपने स्कूल का उन्हें निरीक्षक का पद प्रदान किया है। वह लड़की उनकी कोई प्रेमिका नहीं, छात्रा है, जिसे वे पुत्रीवत प्यार करते हैं। उनके प्रति आप लोगों को तनक भी शङ्का अथवा सन्देह न करना चाहिये। संसार का कोई आकर्षण उन्हें अपने चपेटे में नहीं ला सकता। वे अविवाहित, संयमी और सदाचारी युवक हैं।

अब रमा के शिर से यह गुरुतर भार उतरा। उसने संतोष की साँस ली, और अपने रघुबीर की इस अपूर्व साधना पर वह मन ही मन प्रसन्न हुई। उसे अपने विचारों पर अति ग्लानि हुई।

दोनों को निःशब्द देख रघुनाथ फिर बोला—तो क्या आप की चम्पाबाई जी, सचमुच अपने मुँह से कुछ न कहेंगी।

'इस समय क्षमा कीजिए, किसी दिन घर पर आने का कष्ट कीजिएगा।'

दूसरे ही दिन संध्या समय वह रमा के कोठे पर पहुँचा। रमा रघुनाथ को सहसा अपने प्रकोष्ठ में उपस्थित देख एकबार घबरा उठी। उसने बड़ी कठिनता से साहस संचित किया, हृदय-उद्वेग को दबाया, मुखाकृति का भाव छिपाया और एक अपरिचित-सी, बड़ी ही अकृत्रिम भाषा में वह बोली—आइये, विराजिए? कल, सिनेमा में शायद आप ही तो मिले थे!

रघुनाथ, रमा की इस नाट्यकला पर जरा मुसकराया, पर वह भी शान्त, शिष्ट स्वरों में ही बोला—जी हाँ, सेवक ही था।

"अच्छी बात है। बड़ी कृपा हुई। कहिये, गाने-वाने का प्रबन्ध करूं?"

"जी नहीं।"

"तो क्या यहाँ ठहरने की इच्छा से कष्ट किया?"

"जी नहीं।"

"तो फिर कष्ट का कारण?"

"अभी कहता हूँ।"

रघुनाथ बातें करता जा रहा था और विस्फारित नेत्रों से रमा को देखता जा रहा था, मानों उसकी कोई अपनी खोई चीज वर्षों के बाद मिली हो और उसकी पहचान वह बड़े सावधान नेत्रों से कर रहा हो। रघुनाथ को इसप्रकार अपनी ओर घूरते देख, रमा ने एक चुटकी ली—क्यों महाशय! आपको मेरे सौन्दर्य में कोई अभाव दीख रहा है क्या? आखिर इन आँखों को इसप्रकार कष्ट देने का कारण?

झेंपता हुआ रघुनाथ बोला—नहीं नहीं, अभाव और आप-सी सर्वाङ्ग सुन्दरी में! आपने यह क्या कहा! हाँ, मेरे इस प्रकार देखने में एक बात अवश्य निहित है, यदि आज्ञा हो तो कहूँ।

"अवश्य बिना संकोच कहिये। यह वेश्या का घर है, रईस का नहीं। यहाँ अच्छी बुरी सभी बातें निःसंकोच कही जाती हैं।" रमा के इन वाक्यों में कठोरता और व्यंग का सम्मिश्रण था।

रघुनाथ रमा के इसप्रकार की बातचीत से आश्चर्यान्वित हुआ। क्षण प्रतिक्षण उठते हुए विचारों के थपेड़ों को विच्छेद करता हुआ वह बोला—यदि मेरी स्मृति ठीक है और मेरी आँखें मुझे धोखा नहीं देती तो आप सच कहें, क्या आप मेरे घर में रहने वाली रमा देवी नहीं हैं?

इसमें संदेह नहीं कि रघुनाथ के इस प्रश्न ने रमा को एक क्षण के लिये विचलित कर दिया। वह कुछ बेचैन-सी हुई। कई वर्षों के बाद अपने एक प्रिय व्यक्ति के मुख से अपना प्रकृति नाम—जिसे वह एक प्रकार भूल गई थी—सुनकर उसकी नसों में एकबार विद्युत दौड़ गई।

परन्तु उसने एक आश्चर्यजनक साहस से अपने उन भावों को छिपाते हुये विकट अट्टहास किया और बोली—धृष्टता क्षमा हो। आपने मद्यपान तो नहीं किया है? आप किस रमा की बातें कर रहे हैं? उससे मुझसे क्या सम्बन्ध? क्या आप की आँखें आपको धोखा तो नहीं दे रही हैं। देखती हूँ, इस समय आपकी बुद्धि आपका साथ नहीं दे रही है। मैं बनारसी तवायफ हूँ, चम्पा मेरा नाम है।

रघुनाथ, रमा के इन व्यंगपूर्ण उत्तर से आश्चर्य-विमूढ़ हो रहा। वह तो स्पष्टतः पहचान रहा था, यह रमा है। वेश, भाव, आचरण के परिवर्तन से क्या मैं पहचान न सकूँगा? अवश्य मेरा अनुमान ठीक है। वह पुनः बड़े खिन्न स्वर में बोला—आप अपने को मुझसे छिपा रही हैं, इसका मुझे बड़ा खेद है। अफसोस, मुझे आपके शरीर-गत किसी विशेष चिन्ह की न तो अब याद है, न शायद मैंने कभी देखा ही है। आप मेरे घर में लगभग दो वर्ष तक

रह चुकी हैं, और दिन रात में अनेकों बार आपकी यही आवाज सुन चुका हूँ, फिर भी आप मुझे चक्कर में डाल रही हैं, इसका मुझे हार्दिक दुःख है।

रमा पुनः उसी स्वर में बोली—परन्तु इसका मुझे भी कम दुख नहीं है कि आप भी भारी भ्रम में हैं। इस संसार में बहुतेरे स्त्री-पुरुष समान रूप के पाये जाते हैं। खैर! मुझको इन झगड़ों से क्या मतलब! जो सच्ची बात थी, मैंने कह दी। मानना, न मानना आपकी इच्छा पर है। हाँ, यदि गाना सुनने की इच्छा तो आज्ञा दें, दासी सेवा में प्रस्तुत है।

रघुनाथ खिन्न स्वर में उठता हुआ बोला—क्षमा करें मैं इसका शौकीन नहीं।

—"अच्छा पान तो खा लीजिए।" साग्रह रमा बोली

—"धृष्टता क्षमा, आपकी इतनी कृपा ही पर्याप्त है।"

—मुझे इसका हार्दिक दुःख है कि मैं आप के किसी योग्य नहीं रहीं। अच्छा, कभी-कभी दर्शन देते रहियेगा।"

"—चेष्टा करूँगा।" कहकर रघुनाथ चला गया।

२५

एक दिन रमा को मध्यान्ह की डाक से विधवा-आश्रम के प्रधान जी का पत्र मिला। पत्र का आशय इस प्रकार था:—

प्यारी पुत्री रमा!

अनेक शुभाशीष।

प्रयागवासी मेरे उन सम्पादक मित्र ने तुम्हारे सम्बध में जो

समाचार मेरे पास भेजा है, उसे पढ़कर सहसा विश्वास नहीं होता कि सती सीता ने स्वेच्छा से रावण को वरण किया है, स्वर्ग के बदले नरक को आलिङ्गन किया है। बेटी! प्रतिहिन्सा या प्रतिशोध की अग्नि में जब तुमने स्वयं कूदकर अपने को भस्म कर डाला, तब तुम दूसरों से अपने अत्याचार का क्या और किस प्रकार बदला लोगी! जब मुसाफिर खुद गुमराह है, दूसरे को क्या मार्ग दिखलायेगा! सैनिक जब स्वयं निरस्त्र है, तो वह किसीका गला क्या नापेगा! अपनी नाक कटाकर किसी की यात्रा भंग करने के पहले तुमने स्वयं अपनी यात्रा बिगाड़ी। अतः पुत्री! यदि तुमने ऐसी भूल की, तो स्वयं अपने को धोखा दिया। तुम इस पतित पथ का परित्याग कर सुमार्ग पर आओ, तब अपने अत्याचारियों से बदला लो। तुम स्वयं क्यों लीक से फिसलती हो? मुझे आशा है, तुम मुझ बूढ़ की इतनी सीख अवश्य हृदयङ्गम करोगी और शीघ्र ही इस नरक से निकलकर सुपथ पर आओगी। याद रखो, पाप का परिणाम कभी अच्छा नहीं हुआ है। हाँ, अब थोड़ा यहाँ का भी समाचार सुन लो। नरपिशाच मैनेजर अपनी अंतिम साँसें ले रहा है। उसकी पीठ में बड़ा भयंकर जहरबाद हो गया है। दवा-दारू, सेवा-उपचार सब हो रहा है, पर उपयुक्त एक भी नहीं होता। वह दिवा-निशि अपने महापापों का भयंकर परिणाम आज छः मास से भोग रहा है। पापी का अंत बड़े भयंकर कष्ट से हो रहा है। अस्तु, बेटी तुमसे प्रार्थना है, कि तुम शीघ्र से शीघ्र इस पाप-पंक से निकलो। ईश्वर तुम्हें सुबुद्धि दें। तुम्हारा कल्याण करें।

तुम्हारा सेवक—

प्रधान जी

पत्र पढ़कर रमा काँप उठी। "पाप का अन्त बड़े भयंकर कष्ट से हो रहा है।" पत्र के इस अंश ने रमा के हृदय और मस्तिष्क

दोनों को विचलित कर दिया। आह—! सचमुच मैंने प्रतिहिंसा की अग्नि में अपने को झोंक दिया! जोश में, मूर्खतावश अपनी नाक कटा ली और नारित्व की थाती को इस यौवन की अन्धी और गन्दी उदभ्रान्तता में लुटा दिया! हा, मुझ-सी पापिनी कौन होगी! इस हत्यारे यौवन और सौन्दर्य ने मुझे बड़ा गहरा धोखा दिया। बस, बस, आज इस सौन्दर्य को समाप्त कर दूँगी। हाय! मैं उस साधु प्रधानजी को अपना कौन-सा मुँह दिखाऊँगी। रघुबीर मुझे समझेगा, उसने उसदिन मेरे लिये कैसे घृणात्मक शब्द कहे। नहीं, नहीं, बस इस हत्यारे सौन्दर्य को समाप्त करूँगी, आज ही और इसी दम! घृणा! घृणा! इस जीवन से, इस देश से, इस समाज से मुझे घोर घृणा है। इन अधम घृणितों के साथ अहर्निश वास कर कैसे कोई घृणा से वंचित रह सकता है! मुझे, अब अपने इस पतित-जीवन से तनक भी ममता नहीं होनी चाहिये। ये नरक की विभूतियाँ, नरक को ही मुबारक हों।

इन विचारों ने जैसे रमा को पागल बना दिया। वह अपने पापों और भयंकर भूलों की स्मृति से विचलित हो विकल हो गई। उसे अपनी इस कुटिल काया पर इतनी घृणा, इतना क्रोध उत्पन्न हुआ, कि वह बड़ी बेरहमी से अपना मुख नखों से नोचने लगी। वह अपनी दीर्घ गुण्ठित वेणी को इस प्रकार, बार-बार खींचने लगी, मानों वह इसे उखाड़ ही फेंकेगी। उसने साड़ी की धज्जी-धज्जी उड़ा दी। सारे अलंकार फेंक डाले। वह अपनी विद्रोहिनी, आप बन गई। वह बड़ी व्यग्रता से किसी प्राण-घातक वस्तु को खोजने लगी। परन्तु जब उसे उसकी इच्छित वस्तु न मिली, तो उसने छत के मुड़ेरे पर अपना सर दे मारा। मुड़ेरे के आघातों से सर फट गया और उससे रक्त की धारा बह चली। सारी मुखाकृति रक्तप्लावित हो गई। अब वह रसोई घर की ओर दौड़ी। उसे याद आया वहाँ

तरकारी काटनेवाली हसिया होगी। किन्तु रसोई घर में ताला पड़ा था। विक्षिप्त रमा को इसकी सुध न थी, वह जोर-जोर से किवाड़ों को पीटने और धक्के देने लगी। सहसा ये शब्द रमा की दासियों के कानों में पड़े। वे हड़बड़ा कर उठ बैठीं। रमा का ऐसा उद्दण्ड, उद्भ्रान्त तथा रक्तसिक्त रूप देख, भय चिन्ता और आश्चर्य से वे रमा के निकट दौड़ पड़ीं। उन्होंने बड़ी मजबूती से रमा का हाथ पकड़ लिया, यद्यपि रमा अपनी पूरी शक्ति से उन्हें ढकेलकर रसोई घर की ओर बढ़ने की चेष्टा कर रही थी। दासियाँ उसे पकड़े हुए पानी वाले "हौज" के निकट ले आयीं। दासियों ने उसे हठात् नहलाना शुरू किया। रमा का मानसिकोत्ताप बड़ा प्रबल हो उठा था। एक तो आपही विचारों की निरंतर आघात से उसका मस्तिष्क दूषित हो गया था, दूसरे सर फोड़कर उसने अपने को और भी पागल बना डाला था।

लगातार कई घड़े जल उड़ेलने के बाद, रमा के रक्तिम नेत्र उज्वल हुए। मुख कुछ शान्त, शिथिल-सा भासित हुआ। पर वह बड़ी ही क्लान्त सी हो रही थी, मानों वह सरतोड़ परिश्रम कर चुकी हो। कपड़े बदलवाकर उसकी दासियाँ उसे कमरे में ले आयीं और पलंग पर लिटाकर पंखा झलने लगीं। एक सेवक डा० बुलाने को भेजा गया। परन्तु इतनी परिचर्या के बाद भी रमा शान्त न थी। वह मन ही मन कुछ बड़बड़ा रही थी, और उसकी मुखाकृति रह रहकर आवेपित हो जाती थी, जैसे उसने किसी का खून कर डाला हो।

डाक्टर आया और रमा की इस बीमारी का सारा वृत्तांत सुन अपनी परीक्षा के पश्चात् बोला—किसी सांघातिक विचारों के भयंकर आक्रमण से इनके कोमल हृदय पर गहरी चोट लगी है, जिससे इनकी मस्तिष्क-शक्तियाँ परम उग्र हो घोर अशान्त हो गई हैं। सर

पर "मिरके" की पट्टियाँ रखिये, और उसे बराबर तर किये रहिये। दवा मैं लिख देता हूँ, दूकान से ले आइये। और हाँ, इस बात का ध्यान बराबर रखिये, इनके सम्मुख कोई करुण-कथा न कही जाय। इन्हें अच्छी-अच्छी बातें सुनाइये। हो सके तो इनके निकट गाने-बाने का प्रबन्ध कीजिए, चिन्ता न कीजिये। अच्छी हो जाँयगी। परन्तु चिकित्सा यदि भली तरह न की जायगी, तो इनका यह रोग समय-समय पर उभड़ता रहेगा और इन्हें व्यथित करता रहेगा। और जहाँ एकबार "माइन्ड" का पूरी तरह फेल्योर हो गया, कि शीघ्र न सुधरेगा।

डाक्टर चला गया और उसके आदेशानुसार रमा की परिचर्या होने लगी। एक बजे दिन की पड़ी-पड़ी रमा ने ८ बजे रात में जल माँगा और उसका मस्तिष्क कुछ ठिकाने आया।

२६

अब रमा के मस्तिष्क में केवल एक ही बात थी जो उसे बेचैन किये रहती। मैं अपनी सम्पत्ति किस सत्पुरुष के हाथों सौंपू जो उसे उत्तम पुण्य-कार्य में सद्व्यय कर मेरे पाप का प्रायश्चित्त कर सके। सहसा रमा के नेत्रों के सामने दो मूर्तियाँ नाच उठीं, रघुबीर और प्रधान जी।—"बस ठीक है।" रमा की अन्तरात्मा ने कहा। मानों उसे अन्धेरे में प्रकाश मिला, भटकते हुये पथिक को मार्ग मिल गया। उसके सर से भारी भार उतर गया।—उसने रघुबीर को एक पत्र लिखाः—

श्रीमान् हेडमास्टर साहब,

मिशन स्कूल, प्रयाग।

मान्यवर!

शतशः नमस्कार के पश्चात् सेवा में सानुनय प्रार्थना है कि एक समाज-पतिता वेश्या नारी आपके दर्शनों के लिये लालायित है। मैं जानती हूँ, आप-सा सदाचारी सत्पुरुष इस पाप भवन में पाँव रखना तो क्या, नाम तक जिह्वा पर लाना नहीं चाहेगा। परन्तु श्रीमान की जैसी प्रशंसा इस पतिता ने सुनी हैं, उसी दयालुता, सहृदयता पर विश्वास कर, ऐसी प्राथना करने का दुस्साहस कर सकी है।

श्रीमान्! इस समय मैं दुख के अपार महासागर में निरावलम्ब बही जा रही हूँ, मेरी क्षमा करें। आपके अतिरिक्त मुझे कोई उबार नहीं सकता। शास्त्रों का कथन है, एक नारी, जो दया की भीख माँगती हो, शतशः गोरक्षा के पुण्य-सदृश है। मुझे आशा है, श्रीमान ऐसे पुण्यार्जन से कदापि पराङ्मुख न होंगे। और श्रीमान् विश्वास रखें, आपको मर्यादा तथा प्रतिष्ठा के विरुद्ध यहाँ कोई कार्य भी न होगा। दर्शन देने की दया अवश्य करें। विशेष विनय।

कृपाभिक्षुकी, दर्शनाभिलाषिणी

"बनारस वाली"

पत्र नौकर को दे, रमा ने अब अपना वेष परिवर्तन किया। उसने अपनी बहुमूल्य साड़ी और अलंकारों को उतारकर दूर फेंक दिया, केश-राशि बिखेर कर साबुन द्वारा खूब मल-मल कर धो डाला, जिससे उसमें ज़रा भी इत्र, फुलेल आदि की बू तक न रह जाय। फिर एक सादी साड़ी पहन, एक सद्वंश-प्रसूत विधवा, गृहस्थ-गृहणी-सा शान्त, सीधासाधा रूप बना अपने कमरे में आ बैठी।

नौकरों को उसने आज्ञा दे दी--सावधान ! बिना मेरी आज्ञा के कोठे पर किसी को चढ़ने न देना।

रमा अपने प्रकोष्ठ में बैठी-बैठी सेवक के लौटने की प्रतीक्षा करने लगी। पूरे दो घन्टे के बाद सेवक लौटा। रमा ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—क्यों, मास्टर साहब मिले? साथ आये हैं?

—'जी नहीं।' सेवक शान्तमुद्रा से बोला।

—'नहीं! क्यों!! उन्हें पत्र तो दिया? उन्होंने उसे पढ़ा तो?

—'जी हाँ।'

—'उन्होंने क्या कहा?'

—उपेक्षित दृष्टि से पत्र पढ़कर उन्होंने मेरे हाथों में दे दिया और स्वयं एक दूसरे कमरे में चले गये!

"—तब—तब—?" रमा बड़े कष्ट से रघुबीर के इस रुक्ष व्यवहार की बात कलेजे पर पत्थर रखकर सुन रही थी।

—'तब, घण्टेभर के बाद वे उस कमरे से निकले और मुझे बैठा देख बोले, क्यों जी, अब तक तुम बैठे हो?" मैंने कहा—"हाँ, हुजूर ने कुछ हुक्म नहीं दिया, हमारी मालकिन का हुक्म था बाबू जी से जबाब लेते आना। उसी जबाब के आसरे बैठा हूँ सरकार!"

रमा प्रसन्न नेत्रों से नौकर को निहारती हुई बोली—वाह! यह तुमने अच्छी बुद्धिमानी की! हाँ, तब उन्होंने क्या कहा?

—"तब वे बोले—अजी, कौन बनारस वाली! वही न जिसके कोठे पर कालेज के कुछ लड़कों ने उत्पात मचाया था!" मैंने कहा—हाँ, हुजूर! उन्होंने पूछा—"तो उन्हें मेरी क्या जरूरत है भाई! मैं तो एक मास्टर हूँ।" वे जरा मुसकराये। मगर मैंने बड़ी-बड़ी आरजू की तब उन्होंने वादा किया—अच्छा, ऐसी बात है तो मैं शाम को आऊँगा, यही पाँच, छः बजे। अभी तो देखते हो कामों में उलझा हुआ हूँ।

रमा ने संतोष की साँस ली। इसी समय एक युवक, माँ के रोकते-रोकते कोठे पर चढ़ आया, और उसने देखा, आज सचमुच रमा ही वहाँ बैठी है। उसने सर्वप्रथम सम्पादक के घर रमा को इसी रूप में देखा था। वह आश्चर्यान्वित हो बोला—रमा, तुम यहाँ कैसे! और वह बनारस वाली? वह युवक दूसरा कोई नहीं, रघुनाथ था। वह निसंकोच रमा के समीप बैठ गया। बोला—सच कहो रमा तुम इस पापकुण्ड में कैसे?

रघुनाथ के सदृश एक पतित प्राणी की ऐसी गर्वोक्ति ने रमा के मस्तिष्क में पुनः विषम ऊष्णता उत्पन्न कर दी। वह क्रुद्ध सिंहिनी की भाँति गरज कर बोली—बेहया, निर्लज्ज, तुम्हारे जैसे एक महा-नीच जन्तु के अधम हृदय से यह पाप-कुण्ड कहीं श्रेष्ठ और उत्तम है। चाण्डाल, प्राण लेकर मातम मनाने आया है! तेरे ही पतित प्रेम की परिशोधाग्नि ने मुझे इस नरक-कुण्ड में ढकेला। जा! उस सौंदर्य की प्रतिमा जेनी की उपासना कर, जिसकी प्राप्ति के लिये तूने धन धर्म मर्यादा और मानापमान सब कुछ स्वाहा कर डाला। मुझे इसका महान् दुःख है कि मैं मेनका, तिलोत्तमा और रंभा बनकर तुम जैसे नर-पिशाचों के संहार करने में समर्थ न हो सकी, और न हो सकूँगी। तुम्हारे सम्पर्क, तुम्हारे आज्ञा-पालन मुझे हर वक्त छलते आये और छलेंगे। रमा आवेश में काँपने लगी।

रघुनाथ, रमा की ऐसी उग्र भयावनी मूर्ति देख कुछ डरा, परन्तु शीघ्र ही आत्मसंयम कर बोला—जैसा किया, वैसा पाया रमा! मुझपर क्रोध न करो। अब मैं क्रोध के स्थान पर दया का पात्र हूँ। तुम-सी साध्वी नारी को मैंने प्रेमान्ध बनाकर पतित बना डाला और उस दुष्टा ने मुझ कामान्ध-पशु को अपने रूप-जाल में फँसा भिखारी बना डाला। पिता-माता, मेरे भ्रष्टाचरणों के महाशोक में घुल-घुलकर मर गये। घर की बची-खुची जमा-पूँजी सब उस डायन की फरमाइशों

में स्वाहा हो गई। एक मकान, जो कुछ क्षण-विश्राम करने के लिये बचा था, कल वह भी नीलाम हो गया और कल ही उस हत्यारी ने एक इसाई छोकड़े से अपनी शादी कर ली। मैं कल उजड़ा, और वह कल बसी! दैव का यह विषम विधान है! मेरे अतिशीघ्र होने वाले नाश की, बस, इतनी ही सी, छोटी कहानी है। दो रोज हो गये, एक दाने का भी दर्शन नहीं हुआ है। केवल जल पी पीकर किसी प्रकार अपने इस दग्ध हृदय में प्राणों को लिये मारा-मारा फिर रहा हूँ।"

"—ऐसी बात है —!" क्षणमात्र में रमा का मुख आनन्द से खिल उठा। उसके अट्टहास से सारा प्रेकोष्ठ गूँज उठा।

रमा इस प्रकार विकट हास्य कर उठी, मानों उसने अत्यधिक भंग पी ली हो। वह मतवाली-सी फर्श पर लोटने लगी। रघुनाथ भयभीत हो काँपने लगा। उसे ऐसी आशा न थी कि जा रमा उसके सर में पीड़ा की बात सुन रोने लग जाती थी, आज वही रमा उसकी ऐसी दुःखद यंत्रणामयी करुण-कहानी सुनकर इस प्रकार आनन्दमग्न हो उन्मत्त हो उठेगी।

रमा की वह विकट हास्य-चीत्कार दीवारों को चिरती, उसकी दासियों के कानों में पहुँची। वे दौड़ती हुई रमा के निकट आईं। देखा, मारे हँसी के रमा का बुरा हाल है। सामने एक युवा भयाक्रान्त बैठा है, मानो वह असह्य पश्चात्ताप की मर्मान्तिक वेदना से मरा जा रहा हो। दासियाँ बोल उठीं—"क्यों साहेब, आप कौन हैं! आपको यहाँ तक किसने आने दिया! क्यों आये—कारण!" इन दासियों की प्रश्नावली में इतनी रुक्षता थी, ऐसी कटुता थी कि रघुनाथ और भी भयातुर हो उठा। परन्तु शीघ्र ही साधिकार बोला—मैं कोई चोर लुटेरा नहीं हूँ, जो आपलोग मुझपर यों आँखें लाल-पीली कर रही हैं। मैं इस घर में कई बार आ चुका हूँ, और चूँकि इस घर में सबों

को आने जाने का समान अधिकार है, इसलिये यदि मैं चला आया तो कौन सा महान् अपराध कर डाला।

"बस फौरन चले जाइये।" दासियों ने तीव्र स्वर में कहा—

रमा अब तक हँसती ही जा रही थी।

रघुनाथ नर्मी से बोला—मैं कोई संक्रामक रोग नहीं जो आप-लोगों पर आक्रमण कर बैठूँगा। सिर्फ इनसे दो बात कर चला जाऊँगा।

"पर आप बात करेंगे क्या? आप देखते नहीं इनका मस्तिष्क ठिकाने नहीं है?"

अपना कोई वश चलते न देख रघुनाथ उठकर चलने लगा।

रघुनाथ को जाता देख रमा बोली—ये महाशय प्रयाग के मजनू हैं। इनकी "लैली" ने इनका धन चूसकर खोखला बना दिया है। दाने दाने के लिए तरस रहे हैं। नल का पानी पी-पीकर जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। दे दो इन्हें दो रुपये।

दासियों ने दो रुपये रघुनाथ के सामने फेंक दिये।

परन्तु रघुनाथ रुपये लिये बिना ही म्लान मुख से बाहर हो गया। असंख्य विद्युत-शक्ति से प्रयागपुरी जगमगा रही थी, किन्तु अभागे रघुनाथ के सम्मुख अनन्तव्यापी अन्धकार का साम्राज्य फैला हुआ था। उसे विच्छेद करने की शक्ति इन बिजली की बत्तियों में कहाँ थी!

—

२७

रमा के हृदय में भयानक उथल-पुथल मची हुई है। आज रघु-

वीर आने वाला है। वह रघुवीर, जिसके साथ जीवन की वे पवित्रतम घड़ियाँ व्यतीत हुई थीं, जिनमें न दुश्चिन्ताओं के बवण्डर उठते थे, न स्वर्ग-नरक की चिन्ता थी! जिन्हें संसार की कटुतायें तथा तीक्ष्णताएँ छू तक नहीं पाती थीं, जिनकी प्रीत गङ्गा की तरह निर्मल, धर्म की भाँति पावन और बाल्यक्रीड़ा की नाईं निष्पाप थी। अपने ऐसे परमहंस जीवन के एक प्रिय व्यक्ति से १०।१२ वर्षों की लम्बी अवधि तथा जीवन के नाना उत्थान-पतनों के पश्चात् साक्षात् हो, उस समय रमा जैसी गुण स्वभाव वाली स्त्री की क्या दशा होगी, यह कहना कठिन है।

रमा बार-बार काँप उठती है। उसका अपराधी मन रह-रह कर भीत, संत्रस्त हो जाता है। "हाय! वह कैसे, और किस मुख से रघुवीर से कहेगी, मैंने इस वेश्या-जीवन को स्वेच्छा से, अपने पतित प्रेम की घृणित प्रतिहिंसा के आवेश में स्वीकार किया है! और रघुनाथ जैसे एक पतित पुरुष के पापी प्रेम में पागल बन नारी जाति का सर्वस्व स्वाहा कर दिया है!—उफ्—! जिस रमा की धार्मिक-दृढ़ता, सतीत्व-प्रेम को देख, वह उसे देवकन्या समझता था और अपनी आन्तरिक श्रद्धा-भक्ति अर्पित कर धन्य होता, आज उसी रमा को इस पाप-कुण्ड में गोते लगाते देख उसका पवित्र, कोमल हृदय क्या कहेगा! ओह! मैंने उसे बुलाकर अच्छा नहीं किया! क्या अच्छा था, जिस प्रकार मेरे सारे सगे-सम्बन्धी, मेरे आज के जीवन से अपरिचित हैं, उसी प्रकार रघुवीर भी अपरिचित ही रहता!—वह—वह—!! सीढ़ियों से कोई आ रहा है—! ओह—! मुझे रघुवीर के नाम-मात्र से ही इतनी घबराहट क्यों मालूम हो रही है? क्यों रघुवीर, आज मेरे लिये भय की वस्तु बन गया है। हे भगवान! मेरे शरीर में इतना कम्पन क्यों?

सहसा सीढ़ियों पर किसी की पद-ध्वनि सुन पड़ी। रमा चीख

उठी, मानो उसका वध करने के हेतु हत्यारे टूट पड़े हों। दासियाँ दौड़ीं। उन्होंने देखा रमा भयभीत-सी, दोनों मुट्ठी बाँधे काँप रही है, दासियों ने बड़े मीठे शब्दों में पूछा—हुजूर की तबीयत कैसी है?

—ओफ्! तबीयत—!—दीनतापूर्ण दृष्टि से उन्हें देखती व्यग्र-सी रमा बोली—तबियत तो कोई वैसी खराब नहीं मालूम होती, पर जानें क्यों, मुझे बड़ा डर लग रहा है। मालूम होता है, जैसे हजारों राक्षस अपना मुख फाड़े मुझे निगलने दौड़े आ रहे हैं। शायद मेरा मस्तिष्क अब दिनों-दिन अशक्त होता जायगा। जरा देखो तो जीने से कौन आ रहा है?

दासियों ने जीने की ओर देखा पर, कोई आता नहीं दीख पड़ा। वे बोलीं—सरकार, जीने पर तो कोई नहीं।

रमा को कुछ शान्ति मिली पर शीघ्र ही उसकी दृष्टि रघुनाथ पर पड़ी। वह बोली—देखा, तुम लोगों ने देखने में भूल की, मुझे इन्हीं के आने की आवाज सुन पड़ी थी। पीछे फिर के देखो, कौन खड़ा है?

—"हैं—! आप फिर आ गये!" भृकुटि पर बल लाकर साश्चर्य दासियाँ बोलीं।

—"जी हाँ।"

—"छिः आप कैसे बेशर्म आदमी हैं? जब आपको मना कर दिया गया था तो आप क्यों आए?"

—रघुनाथ म्लान-मुख मौन खड़ा रहा।

—रमा बोली—जाने दो बहन! बैठने दो। जब चला आया तो अब तिरस्कृत मत करो।

रघुनाथ अभी भली तरह बैठ भी न पाया था कि सहसा रमा की दृष्टि रघुवीर पर पड़ी। वह सीढ़ियोंवाले प्रवेश-द्वार पर खड़ा था।

रमा अपने वस्त्रों को सँभालती हुई घबराकर उठ बैठी। वह मन ही मन अधीर हो रही थी और उसके हृदय की स्पन्दन-गति तीव्र होती जा रही थी।

यद्यपि वह अपनी इस व्याकुलता तथा उद्वेग को बड़ी सतर्कता-पूर्वक, पूरे बल से दबाने की चेष्टा कर रही थी, तथापि वह कृत-कार्य न हो पाती थी। उसने बड़े साहस से कहा—"आइये विराजिये, बड़ी कृपा हुई दासी पर—!" और कंपित गात से वह बैठ गई। उसकी मुखाकृति पर आश्चर्य-जनक परिवर्तन हो गया। एक दीर्घ श्वांस खींचकर वह मसनद पर लुढ़क गई।

रमा की सेविकायें शीघ्र उपचार में संलग्न हो गईं। रघुवीर इस "बनारस वाली" नामधारिणी रमा को आपाद-मस्तक देख-देख कर आश्चर्यचकित हो रहा था। वह रमा का शानदार शृंगार उस दिन सिनेमा में देख चुका था। आज क्यों इसने ऐसा असाधारण वेश बना रखा है? मालूम होता है, इसे किसी मस्तिष्क-रोग ने आ घेरा है और इसके कृत-पाप इसे भयंकर रूप से सता रहे हैं। लक्षणों से विदित होता है कि यह अभागी स्त्री अपने दुराचरणों तथा दुराचारियों के सहवास से तंग आकर अब अपना सात्विक-जीवन व्यतीत करना चाहती है। पत्र में भी इसने कुछ इसी ढंग की बातें लिखी हैं। परन्तु इसने मुझे क्यों बुला भेजा है, जब कि इतनी बड़ी विशाल प्रयाग-नगरी में मुझसे एक से एक अच्छे, सुयोग्य और सदाचरी लोग निवास करते हैं? मुझसे इसका क्या सम्बन्ध! मुझे इसने कैसे जाना? मैं तो कोई प्रख्यात व्यक्ति भी नहीं हूँ।"

चुपचाप—निष्क्रिय-सी पड़ी रमा की गतिविधि पर आँखें गड़ाये एक ओर बैठा रघुबीर इसी उधेड़-बुन में लगा था। वह शान्त और गम्भीर था। उसकी मुखाकृति पर उसके मनोगत भाव स्पष्टतया दृष्टि-गोचर होते थे।

१५।२० मिनट के बाद रमा कुछ स्थिर चित्त-सी हुई और अपनी दासियों से बोली—अब मेरी तबीयत बिलकुल ठीक है, तुम अपने कमरे में चली जाओ और रघुनाथ की ओर संकेत कर उन्हें भी बाहर जाने के लिये कहा।

सबों के चले जाने के पश्चात् नम्रता-पूर्वक रमा बोली—आज्ञा कीजिए दासी किस प्रकार की सेवा करे।

एक वेश्या के मुखसे ऐसी विनम्र वाणी, सभ्योचित शब्द सुनकर रघुबीर मन ही मन प्रसन्न हुआ और बोला—आपका सज्जनोचित व्यवहार ही मेरे लिये सेवा से कम नहीं, इसके लिए आपको धन्यवाद है। मुझे याद करने का कष्ट क्यों किया है, कृपया इसका स्पष्टीकरण करें।

रमा पुनः नम्र स्वरों में बोली—सब निवेदन करूँगी। सर्वप्रथम आप मुझे यह बतलाने का कष्ट करें कि अभी जिस व्यक्ति को मैंने बाहर जाने का संकेत किया था, क्या आप उनसे परिचित हैं ?

—हाँ, हाँ, जानता हूँ, वे यहाँ के एक प्रख्यात वैद्यराज के एकलौते पुत्र हैं। मेरे साथ बी० ए० में पढ़ते थे, परन्तु आज मुझे इनकी ऐसी विचित्र दशा देखकर बड़ा विस्मय हो रहा है। इनकी ऐसी अवस्था क्यों है, इस विषय में क्या आपको कुछ मालूम है ?

रमा—आप मुझे क्षमा करेंगे, आपकी वे छात्रा मिस जेनी आज से कुछ मास पहले इनकी प्रेयसी रही हैं और इनकी इस दुर्गति का कारण उन्हीं का प्रेम है।

रमा की बातों से रघुबीर का मुख घृणा से विवर्ण हो गया। जेनी के सम्बन्ध में उसकी बड़ी अच्छी धारणा थी। उसे यह ज्ञात न था कि जेनी जैसी सुन्दरी भी विषरस से परिपूर्ण कनकघट जैसी ही है। और उसने भी अपने सुन्दर स्वरूप का, अपने सतीत्व का क्रय-विक्रय किया है।

रघुबीर को मौन देख रमा फिर बोली—आपको मेरी इन बातों से कदाचित अत्यंत दुख हुआ है। परन्तु यह बात आपके हृदय को दुखित करने के अभिप्राय से नहीं, वरन् मेरे पतन की भूमिका यहीं से आरम्भ होती है। कृपाकर इस पतिता की पाप-कथा सुनें। इस अभागिनी को इस स्वार्थान्ध हिन्दू जाति ने किस प्रकार अपमानित कर इस पाप-कुण्ड में ला ढकेला है।

रमा ने अपने गृह निर्वासन, आश्रम-प्रवास, प्रयाग-प्रस्थान रघुनाथ का प्रेम बन्धन, जेनी की प्रतियोगता से लेकर ललिता बाई के गृह-वास और गणिका बनने तक की सारी कहानी क्रमबद्ध सुनाकर अन्त में कहा—श्रीमान् मास्टर साहेब, रघुनाथ और रघुनाथ की भाँति अनेक पापियों की दुर्गति देखकर मैं अपने इस नारी-जाति के कलंकित जीवन से ऊब गई हूँ। आप आश्चर्य करेंगे, मुझे इस सारे नगर में एक भी ऐसा आदमी न मिला, जिसे मैं अपनी सम्पत्ति सौंपकर शेष जीवन भगवद्भजन में बिता देती। मेरे पास, मेरी कुछ पाप की धरोहर है। मेरी आन्तरिक अभिलाषा इस धरोहर को आपके हाथों सौंप देने की है जिससे मैं इस पाप-पंक से अवकाश ले सकूँ। फिर तो जहाँ दिन, वहीं रात! न संसार को मुझसे मतलब न मुझे संसार से। मेरे पैसे पुण्य कार्यों में व्यय हों, पर पुण्य-कार्य मंदिर बावली, कूप, तड़ाग के रूप में नहीं, बल्कि उन भूली-भटकी समाज-त्यक्ता बहनों के वास्तविक संरक्षण के रूप में ही हो। मेरी आन्तरिक अभिलाषा यही है। क्या दासी की इस तुच्छ प्रार्थना को आप स्वीकार करेंगे?

रघुबीर धैर्यपूर्वक रमा के इस लम्बे वक्तव्य को ध्यान से सुनता रहा। उसे भान हुआ, यह वेश्या जो कुछ कह रही है, वह राई-रत्ती सच है। अभी जो इसका आत्म-जागरण हुआ है, वह हवा का झोंका, पानी का बुलबुला या बरसाती नाले की लहर

नहीं है, वरन् एक सच्चे हृदय से निकला हुआ सच्चा उद्गार है। एक दृढ़-प्रतिज्ञ का अटल विचार है, जिसमें अकृत्रिमता का स्थान ही नहीं। रघुबीर बोला—मुझे आपकी बातों पर अक्षरशः विश्वास है। आप अपने इस घृणित जीवन को तिलाञ्जलि दे, शुद्ध, सात्विक जीवन बिताना चाहती हैं, इसपर जितना ही विश्वास होता है, हृदय हर्ष से भर आता है। आपके प्रति हठात् श्रद्धाभक्ति जाग उठती है! मालूम होता है, आपके अन्तरपट में किसी तेजपुञ्ज आत्मा का निवास है। मुझे आपकी सारी आज्ञाएँ सादर स्वीकार हैं, मगर एक बात है। वह यह कि मैं अभी एक अनुभव-शून्य व्यक्ति हूँ। ऐसे गुरुतर उत्तरदायित्व के लिये न तो मुझमें योग्यता है, न क्षमता। उत्तम होता यदि आप यहाँ के कतिपय प्रतिष्ठित सज्जनों को आमंत्रित कर, सामुहिक रूप से यह कार्य उनपर छोड़ देतीं।

रघुबीर की बातें सुन, रमा कुछ विरक्त-सी बोली—मास्टर साहेब! क्षमा करें। मैं सज्जन-वज्जन कुछ नहीं जानती? मुझे सज्जन, महाशय, श्रीमान आदि शब्दों से स्वाभाविक चिढ़ है। मैं इन नामधारी सज्जन, महाशयों की करतूतों से भलीप्रकार अवगत हूँ। मुझे आप पर विश्वास है और आप ही के द्वारा इस कार्य-सम्पादन की आशा मुझे है। आगे आपकी इच्छा। पर हाँ, ए-ए-एक,—ब-ब बात--! अच्छा जाने दीजिये!

—क्या बात है? आप रूकीं क्यों? कहिये-कहिये, जो कुछ कहना हो निस्संकोच कहिये। आप विश्वास कीजिये, मुझे आपकी किसी बात से जरा भी दुख न होगा।" आग्रहपूर्ण स्वर में रघुबीर बोला। रमा अन्यमनस्कता प्रदर्शित करती हुई बोली—पूछने की तो कोई खास बात नहीं है। आपका मकान तो पटने जिले के......+ग्राम में है न? और आपके पिता जी का नाम तो......है? "जी, हाँ!" बिना किसी विशेष औत्सुक्य के सरल भाव से रघुबीर बोला।

रमा समझ गई, रघुबीर का हृदय इन साधारण सी बातों का पता बताने में न तो उत्सुक होगा, न उद्विग्न, जबतक खास निशाने पर तीर न लगेगा। अतः वह रघुबीर को अपनी ओर विशेष आकृष्ट करने तथा अपने प्रति उसकी भावना जानने के हेतु बोली—आप मुझे क्षमा करेंगे, आपके किशोरकाल में आपके ही ग्राम की रमा नाम की एक ब्राह्मण-कुमारी से आपका प्रेम-सम्बन्ध रहा है।

रमा जो चाहती थी, वही हुआ। "बनारस वाली" के मुख से रमा का नाम और साथ ही इतने पते की बात सुनकर रघुबीर आश्चर्य-सागर में गोते लगाने लगा। उसकी सारी स्थिरता, शांति, गंभीरता सब भंग हो गई और वह बड़ी व्यग्र मुद्रा से आँख फाड़कर बनारस-वाली को देखने लगा। उसे ऐसा भान हुआ जैसे उसकी जिह्वा पर किसी ने ताला लगा दिया हो। मुखाकृति पर क्षण-प्रति-क्षण परिवर्तन के भाव दिखलायी देने लगे।

रघुबीर को भली तरह तौलने के अभिप्राय से रमा फिर बोली—क्यों, क्या मेरे कथन में आपको असत्य का अंश मालूम देता है?

"न-न नहीं—!" कठिनता से रघुबीर इतना ही बोल पाया।

रमा फिर बोली—मास्टर साहेब! आपने समझा होगा, एक चोर की दृष्टि में संसार के सारे जीव चोर ही दीख पड़ते हैं, अथवा एक घृणित जीवन व्यतीत करने वाले को विशेषतः घृणित घटनायें ही याद रहती हैं, और उन्हीं की चर्चा करने में उसे आनन्द आता है। मगर नहीं, यदि इस संसार में ईश्वर कोई वस्तु है, आग, हवा, पानी, पृथ्वी और अकाश का इस संसार में कोई अस्तित्व है तो मैं कहूँगी कि जिसप्रकार ये सारी ईश्वरीय-सत्ताएँ निर्मल, निर्दोष तथा निष्पाप हैं, उसी प्रकार आपका तथा उस ब्राह्मण-किशोरी का स्नेह-बन्धन पुनीत, निष्कलुष तथा अकलंक है। और यह बात उतनी ही सत्य है, जितनी जीव और ब्रह्म का अस्तित्व सत्य है।

ऐसा कहकर रमा ने रघुबीर के निर्मल हृदय में से कुछ टटोलने का प्रयत्न किया। रघुबीर का कंठ खुला, वह कुछ साहस कर बोला—हाँ, आपका कथन अक्षरशः सत्य है, परन्तु मुझे आश्चर्य है कि आपको इन बातों का पता कैसे है! मैं यह जानने के लिये बहुत अधीर हो रहा हूँ। आज दस, बारह वर्ष हुए, मुझे उस सौन्दर्य की प्रतिमा को देखे। इस १०।१२ वर्ष की लम्बी अवधि में, मैं कुल दो या चार बार अपने घर गया और उसके सम्बन्ध में केवल इतना ही सुन पाया कि वह साध्वी निष्कलंक देवी, बलात् कलंकित घोषित कर निर्दयतापूर्वक घर से निकाल दी गयी। तब से आज तक उस हतभागिनी का मुझे कोई समाचार न मिला।

रोकते-रोकते रघुबीर की पपनियों पर आसुओं की दो बूंदें झूलने लगीं।

रघुबीर की ऐसी विह्वल-आकृति ने रमा को भी विकल कर दिया, पर उसकी विकलता में जो संतोष तथा हर्ष की प्रचुर मात्रा थी, उसने रमा को विवश होने से बचाया। वह सोच रही थी, "यह शुद्ध-स्नेह की ही मर्यादा है, जो युग बीत जाने पर भी इनके हृदय में पहले की ही तरह ताजी है। ओह! सचमुच ये देवता हैं।"

अश्रु-कणों को पोंछता हुआ रघुवीर बोला—हाँ, तो, आपने उस लड़की के सम्बन्ध में कुछ बताने की कृपा न की! अगर आपको उसकी कोई खबर हो तो दयाकर मुझे जरूर बतावें। मुझे उसके लिये बड़ी उत्सुकता हो रही है।

रमा तनक उदसीनतापूर्वक बोली—मैं नहीं कह सकती वे कहाँ होंगी। जो बात मुझे मालूम हुई है, उसमें सचाई कहाँ तक है, बस, यही जानने की मेरी इच्छा थी। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि जो खबर मुझे मिली वह झूठी नहीं निकली।

रमा की इन बातों पर रघुबीर को विश्वास न हुआ। तर्क द्वारा रहस्योद्घाटन करने के अभिप्राय से वह बोला—

"—परन्तु प्रश्न तो यह है कि, ऐसी खबर आपको किसने दी और क्यों दी? फिर आपको इन बातों से क्या लाभ! क्या आवश्यकता? संभव है मेरे गाँव के किसी व्यक्ति से आपको यह खबर मिली हो। क्या कभी आप मेरे ग्रामपर नृत्यादि के लिये निमंत्रित का गई थीं?"

रमा जरा मुस्कराती हुई बोली—आप जानते हैं, यह वेश्यालय है, यहाँ स्थान स्थान के भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य आया जाया करते हैं। इन्हीं में से किसी ने कहा होगा। फिर यह बात है भी सत्य, और इसमें आपकी कोई निन्दा या बुराई भी नहीं। व्यर्थ आप इतना घबड़ा रहे हैं!

"—मैं घबरा तो नहीं रहा हूँ, पर यह सोच-सोच कर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि ग्राम की एक घटना-विशेष, जिससे आपका कोई सम्बन्ध नहीं, आपको किसप्रकार ज्ञात हुई! आप तो कोई दैवज्ञ हैं नहीं! और जो लोग आपके निकट आते होंगे, वे केवल राग-रंग या हँसी-खुशी की बातें करते होंगे, उन्हें किसी गाँव के किसी खास बात की चर्चा से क्या जरूरत! और न इन बातों से आपही को कोई गरज है। आप कृपाकर बतलाइये, छिपायें नहीं, क्या वह लड़की कहीं पाप-कुण्ड में दिखलाई पड़ी है? सुखराम नाम का कोई व्यक्ति आपके कोठेपर कभी आया है!

सुखराम का नाम सुनते ही रमा की सारी शान्ति, गंभीरता और हँसी-खुशी एक भयंकर क्रोध के रूप में बदल गई। उस नृशंस व्यक्ति का नाम सुनकर—जिसके द्वारा अपनी और अपने कुटुम्ब की हत्या हुई हो—क्यों न उबल पड़े। वह क्रोधोन्मत्त हो तीव्र स्वर में बोल उठी—वह ब्राह्मण-कुल-कलंक, नीच, कमीना चौबे का बेटा! यदि

यहाँ आ जाता तो, उसका रक्त पीकर संतप्त हृदय को शान्त करती। अफसोस! वह चाण्डाल यहाँ आया ही नहीं! यही एक वेदना शेष रह गयी कि उसकी दुर्गति अपनी आँखों से न देख सकी।

रमा ने आवेश में आतुर हो अपनी बहुत कुछ परिस्थिति रघुबीर पर प्रकट कर दी, जिसे वह धीरे-धीरे समय पाकर कहना चाहती थी।

"सुखराम के नाम मात्र से यह बनारस-वाली इतना क्यों उत्ते-हो उठी? सुखराम ने इसका क्या बिगाड़ा है? क्या यही—र-र रमा—! ओफ्—! हे भगवान! आज क्या दृश्य तुम्हें दिखलाना है!" रघुबीर यह सोच कर काँप उठा और उसकी वह उत्कंठा, व्याकुलता, जो धीरे-धीरे प्रदीप्त हो रही थी, सहसा भभक उठी। वह अब बनारस-वाली के अंगप्रत्यंग को निश्चल आँखों से देखने लगा।

रमा मारे आवेश के काँप रही थी। अतीत के अत्याचारों की स्मृतियाँ उसके हृदय को मन्थन कर रही थीं। वह अपने अस्तित्व को भूली जा रही थी। मस्तिष्क दूषित हुआ जा रहा था।

रघुबीर किंकर्तव्यविमूढ़-सा बनारसवाली की यह भयावनी मूर्ति देखता रहा।

२८

घड़ी ने टनटन कर ११ बजाये। अब रघुबीर को समय का ज्ञान हुआ। उसने मृदु-शब्दों में कहा—११ बज गये। एक घण्टे में शहर का आवागमन बिल्कुल बंद हो जायगा। शायद आपको मालूम होगा, मेरा निवास-स्थान यहाँ से २ मील दूर, शहर से बाहर

है। उधर की नीरवता भयंकर होती है। मुझपर दयाकर क्या उस अभागिनी लड़की के विषय में कुछ बताने की कृपा करेंगी।

रमा कुछ उत्तेजित स्वर में बोली—नहीं तो आप चले जाते? क्यों? मैं जानती हूँ दुनियाँ मतलब की दीवानी है। मैं इसी स्वार्थ परायणता की घृणित-चक्की में पिस कर अपना सर्वस्व स्वाहा कर चुकी हूँ।

रघुबीर को अपनी इस स्वार्थपरता पर ग्लानि हुई। बोलने की चेष्टा करने पर भी वह आगे कुछ बोल न सका।

उसे मौन देख रमा ने प्रश्न किया—अगर उस लड़की से आपका साक्षात हो जाय तो क्या आप उसकी सहायता या उपकार कर सकेंगे!

रघुबीर जैसे सोते से जाग पड़ा। हृदय के सारे आनन्द को रमा के सामने बिखेरता हुआ वह बोला—अवश्य अवश्य! तन, मन धन से! वचन देता हूँ।"

रमा ने अपना दाहिना हाथ रघुबीर के सामने बढ़ा दिया और नतमस्तक हो गई।

सहसा रघुबीर चीख उठा—आह—! तु-तु-तुम्हीं-र-र-रमा हो।

फिर वह हतप्राण सा निश्चेष्ट हो, रमा के दाहिने हाथ पर लिखे अँग्रेजी के "R" अक्षर को आँखें गड़ाकर देखता रहा, मानो उसके प्राण आँखों की राह निकल उसी "R" में अन्तर्लीन हो गये हों! १५ मिनट तक रघुबीर के मुख से शब्द क्या, श्वास प्रति-श्वास की ध्वनि तक जब रमा को न सुन पड़ी, तब घबड़ा कर उसने रघुबीर को देखा, और करबद्ध बोली—मेरे रघुबीर, मुझ कुल-कलंकिनी को क्षमा-दान दो।"

फिर वह रघुबीर के पैरों पर गिर पड़ी।

रघुबीर माधुर्यपूर्ण स्वर में बोला, मानो उसके प्राण, आघातों-

प्रत्याघातों से थकित हो गये हों—मैं तुम्हें कुछ नहीं कह सकता रमा, परन्तु जिन पिशाच, पामरों ने तुम्हारी ऐसी दुर्गति की है, अवश्य उनको ईश्वरीय-दण्ड भोगना पड़ेगा। मनुष्य तो एक निर्बल, निःशक्त प्राणी है, उसकी शक्ति ही क्या और कितनी ?

रमा बोली—रघुबीर, तुम लड़कपन से ही भावुक और कल्पना-प्रिय रहे हो। मैंने भी तुम्हारी ही तरह समझ रखा था, यदि अमुक बात हुई तो मैं मर जाऊँगी। पर वे सारी बातें हुईं और हो रही हैं, मैं मरी नहीं। मृत्यु को मैं जितनी सस्ती समझी थी, वह उतनीही मँहगी निकली। रघुबीर, वास्तविक संसार और वास्तविक जीवन से अभी तुम दूर हो, अभी तुममें वही बाल्यकाल की स्वनिर्मित कल्पना तथा भावुकता डोल रही है। अभी तुमने संसार में पाँव ही नहीं रखा है ! अच्छी तरह पैर रखने पर तुम समझोगे कल्पना, भावुकता और वास्तिविक संसार को। मैं इस संसार से ऊब गयी हूँ। मेरा उद्धार तुम्हारे आधीन है। अस्तु, जाने दो इन दार्शनिक बातों को। मेरी केवल इतनी प्रार्थना स्वीकार करो कि मेरे इस पाप की कमाई को अपनाकर किसी सद्कार्य में व्यय करो और मुझे इस जीवन से मुक्ति दो।

रमा पुनः रघुबीर के चरणों पर गिर पड़ी। अश्रुओं की अविरल धारा से रघुबीर के पैर भींग गये। रघुबीर रमा के इस दयार्द्र रुदन से विचलित हो गया। वह रमा को प्यार से उठाते हुए बोला—

"रमा ! किसी प्राणी से, किसी अवस्था-विशेष से बाध्य होकर उसकी इच्छा तथा मनोवृत्ति के विरुद्ध, बलात् उससे जो सुकर्म या कुकर्म हो जाता है उस धर्माधर्म का भोक्ता या कर्त्ता वह कदापि नहीं हो सकता। तुम साध्वी से वेश्या बनी, इसे संसार भले ही स्वीकार कर ले, परन्तु, मैं इसे मृत्युपर्यन्त स्वीकार न करूँगा। मेरे हृदय में जो तुम्हारा पावन प्रतिबिम्ब बाल्यकाल से ही प्रतिबिम्बित है, उसे

भगवान शिव का त्रिशूल भी खुरच कर नहीं मिटा सकता। मेरी दृष्टि में तुम आज भी रेवती तटवाली वही रमा हो। तबकी रमा और अब की रमा में मुझे बाल बराबर भी अन्तर नहीं दीख पड़ता। मेरे हृदय से जो "आह" निकली थी वह तुम्हारे वेश्या बन जाने के कारण नहीं, बल्कि इस कारण कि इस अभागी हिन्दूजाति की निकम्मी रूढ़ियों ने अपनी एक ऐसी उत्तम वस्तु को गन्दी नालियों के कीड़ों-मकड़ों को भेंट देदी, जिससे समय पर उसका बड़ा उपकार होता। रमा, तुम्हारे वाह्य शरीर में जो कुछ भी परिवर्तन हो गया हो, परन्तु अन्तर्हृदय में अभी वही तेजपूर्ण आत्मा विराजमान है। तुम अपने हृदय में इस बात को कभी स्थान न देना कि मैं तुम्हें वेश्या समझ रहा हूँ।

रघुबीर की बातों से रमा को अत्यधिक संतोष हुआ। वह करबद्ध बोली—मेरे रघुबीर! मुझे तुम्हारी कृपा पर पूर्ण विश्वास है। आशा है, तुम मुझे न ठुकराओगे और मेरी प्रार्थना स्वीकार करोगे।

रघुबीर सहर्ष बोला—अवश्य, अवश्य तुम्हारी आज्ञाओं का मैं अक्षरशः पालन करूँगा। पर यह तो बताओ, तुम अपना शेष जीवन किसप्रकार व्यतीत करना चाहती हो?

रमा ने दृढ़ता से उत्तर दिया—समाज से अपने अपमान का बदला लेना ही मेरा मुख्य ध्येय है। इसकी पूर्ति में मैं अपनी आहुति तक दे दूँगी।

रघुबीर ने सान्त्वना देते हुए कहा—तुम अकेली इतने विशाल पुरुष-समाज से किस प्रकार बदला लोगी! यह तुम्हारी भारी भूल है। विवाह-सूत्र में बँधकर शेष जीवन को परोपकार में व्यतीत करना, सबसे उत्तम मार्ग है।

रघुबीर की बातों से रमा इतनी प्रभावित हुई कि वह आगे

क्या करे इसका निर्णय करना उसके लिये असम्भव हो गया। वह मौन हो गयी।

रघुबीर उसकी इच्छा-पूर्ति का वचन दे सीढ़ियों पर उतरा। रमा स्थिर दृष्टि से उसे देखती रही।

२६

प्रातःकाल रमा नित्य क्रियादि से निवृत्त हो अपने कमरे में आ बैठी। उसके मस्तिष्क में अब शान्ति थी। उसके सर का बोझ दूर हो गया था। रघुबीर उसके मनोनुकूल कार्य करने की प्रतिज्ञा कर चुका था। पर रमा ने सोचा, सचमुच सारा भार अकेले रघुबीर पर छोड़ना ठीक नहीं, वह घबरा उठेगा। अच्छा होता यदि प्रधान जी को तार द्वारा यहाँ बुलवा लूँ, और उनसे भी इस सत्कार्य में योगदान के निमित्त प्रार्थना करूँ। शीघ्र ही विचार निश्चय-रूप में परिणत हो गया और तुरन्त एक तार लिखा—

"पूज्य प्रधान जी! आपके सदुपदेश ने मेरी आँखें खोल दी हैं, अब मैं इस नारकीय जीवन से मुक्ति चाहती हूँ। आप से कुछ परामर्श करना आवश्यक है, कृपया अवश्य दर्शन दें।"

कृपाश्रिता—

रमा।

अपने सेवक द्वारा तार भिजवा कर वह छज्जे पर गयी। छज्जे पर पहुँचते ही उसनें देखा, छज्जे की ठीक सीध में, फुटपाथ पर, एक बूढ़ा अन्धा खँजड़ी बजा बजाकर गा रहा है और उसके पीछे एक बूढ़ी अन्धी, मैली फटी-सी धोती पहने खड़ी है। वृद्ध के शरीर पर

एक दिहाती बगलबन्द और सर पर एक मटमैले रंग का कन्टोप है। कमर में धोती के नाम पर दो ढाई गज का टुकड़ा लिपटा है। ललाट पर रामानन्दी तिलक लगा है। दाढ़ी बढ़कर छाती छू रही है। सर के सूखे केश पीठ पर लोट रहे हैं। गले में तुलसी की मोटी मोटी माला लटक रही है। वह गा रहा है—

"मन पछितैहो अवसर बीते।"

लोगों की भीड़ लगी है। बच्चे किलकारियाँ लगा रहे हैं। युवक मनोरंजनार्थ खड़े हैं। कोई-कोई वृद्ध बाबा, तुलसीदास की इस चेतावनी को श्रवणकर साश्रु-नेत्र हो रहे हैं। गाने की हर कड़ी के बाद वह अन्धा बड़ी दीनार्त वाणी में भिक्षा-याचना करता है:—

"दानी दाता लोग, भगवान के नाम पर, धेला, पैसा, आना, दो आना, अन्न, वस्त्र, जिससे जो बने अन्धे लाचार को देकर सहायता कीजिये, बड़ा पुण्य होगा भैया लोगों? सैकड़ों कोस की दूरी से आपके तीर्थराज प्रयाग का नाम सुनकर बड़ी-बड़ी आशायें लेकर पैदल भटकते आये हैं। ओढ़ना-बिछौना कुछ नहीं है। रातभर जाड़े में ठिठुरकर सबेरा करते हैं। भगवान आपका भला करे। दूधों नहावो, पूतों फलो! दाता, दया करो।"

उस अन्धे के आगे जो टुकड़ा फैला है, उसपर मुश्किल से चार या पाँच पैसे पड़े होंगे, यद्यपि तमाशाइयों की तादाद कहीं अधिक है।

रमा अपलक नेत्रों से इन आह की तस्वीरों को देख रही थी, जिनके रोम रोम पर कालान्तर की दीनता और असह्य परवशता बैठी बिलख रही थी। कभी अन्धी भी अन्धे का संकेत पा बोल उठती थी:—

"हाँ, बाबू भइया लोग! भगवान तुम्हें बनाये रखें। एक-एक पैसा, आप लोगों के लिये कोई बड़ी बात नहीं है राजा लोग! दस, पाँच की लाठी, एक जने का बोझ! फेंकते जावो, एक-एक पैसा। तुम्हारी जय हो, कल्याण हो। हम ब्राह्मण हैं, गरीब हैं, लाचार हैं।

इसी समय पुलिस का जाहिल जमादार बकोटा सिंह, एक २५–२६ वर्ष के व्यक्ति को जो अपने युवाकाल में ही वृद्ध-सदृश लग रहा था, मारता, घसीटता इधर आ निकला। उस अभागे युवक के सारे शरीर पर केवल एक फटी-चिटी धोती थी। अपने वज्र-सदृश कठोर हाथों से, पुलिस का वह जाहिल जमादार उस अभागे युवक के पिचके गालों पर तड़ातड़ तमाचा लगाता जा रहा था, और वह अभागा हर-तमाचे पर चीख उठता था—"अब नहीं सरकार! अब मत मारो, मर जाऊँगा। ब्राह्मण हूँ, हत्या लगेगी! दोहाई है सरकार की—!" वह बार-बार हाथ जोड़ता, जमादार का पैर पकड़ता और रोता, चिल्लाता, परन्तु वह पाषाण-हृदय जमादार द्रवित होने के बदले और उग्र हुआ जा रहा था—"साला गंजड़, हम तुमको कोतवाली में देगा। सीधे मन से चल। बड़ा बराभन का बेटा बना है।" कहते हुए जमादार ने उस दरिद्र को इस जोर की गरदनिया दी कि वह कुछ दूर जाकर औंधे मुँह जमीन पर गिर पड़ा। सड़क के रोड़ों से उसका सर फट गया और रक्त की धारा बह निकली।

एकत्रित जनसमूह ने पूछा—क्यों जमादार साहब! इसने क्या अपराध किया है जो बेचारे को यों कुत्ते की मौत मार रहे हो?

"—क्या जुलुम किया पूछते हो?"—त्यौरियाँ बदलकर जमादार बोला—"यह साला पक्का गिरह-कट मालूम होता है। गाँजे की दूकान के बगल में कुछ लोग बइठा गाँजा पी रहा था। चलते-चलाते 'दम' लगाने को हम भी खाड़ा हो गया कि इतने में यह साला मर-भूखा न मालूम कहाँ से टूट पड़ा। लोग—"हें, हें, ठहरो, ठहरो" चिल्लाता ही था कि यह चट चिलम छीनकर एक दम में सोआहा कर दिया। हम ठक रह गया। आज साला को हम लाल घर देखावेगा। चल, चल!! उसकी पीठ पर और दो घूसा जमाता हुआ बकोटा सिंह, उसे लेकर फिर आगे बढ़ा। पीछे से लड़कों का

झुएड "हो, हो, हो," कर चिल्ला उठा, मानो कोई जानवर पकड़ा गया हो।

वह अभागा अपने करुण चीत्कार से जड़ पत्थरों में छेद करता, रक्ताक्त मुख से चला जा रहा था। सहसा उसकी दृष्टि छज्जे पर बैठी रमा पर पड़ी। वह दोनों हाथ जोड़कर चिल्ला पड़ा—दोहाई है रानी जी, मुझे बचाओ! इन बाबूजी ने मारते-मारते मुझे बेदम कर डाला है, अब कोतवाली लिये जा रहे हैं।

रमा छज्जे से ही बोल उठी—ठहरो बाबू साहब!

रमा अभी ऊपर से नीचे भी न आ पाई थी कि वे दोनों अन्धे-अन्धी, उस युवा से लिपट रोने लगे और बकोटा सिंह से रो-रोकर उसकी मुक्ति-भिक्षा माँगने लगे। रमा नीचे आकर साश्चर्य मन ही मन बोली—हैं, ये दोनों इसे पकड़े क्यों रो रहे हैं?

अन्धा टटोलता-टटोलता रमा के निकट पहुँचा और गिड़गिड़ाता हुआ बोला—रानी जी! यह अभागा इसी भिखारी का पुत्र है, गाँजे की लत ने इसे चौपट कर दिया है। जानें, इस मूर्ख ने ऐसा कौन-सा अनर्थ कर दिया कि ये बाबूजी इसे थाने लिये जा रहे हैं। दोहाई रानी जी की, इसे बचाओ, नहीं तो हम बेमौत मर जायँगे। हम दोनों अन्धे, अन्धी का यही एक अभागा पुत्र अवलम्बमात्र है।

वृद्ध अन्धा विह्वल हो रो पड़ा। रमा उसे ढाढ़स देती हुई बोली—"घबराओ नहीं, तुम्हारे बेटे का कुछ न होगा। फिर वह जमादार से बोली—जमादार! छोड़ दो इसे, नाहक गरीब को क्यों सताते हो?

बकोटा सिंह शान से बोला—हम इसको नहीं छोड़ेगा।

एक वृद्ध सज्जन बोले—अरे, भगवान से डरो जमादार! बूढ़े हुए, इसे सताकर क्या पा जाओगे! इसने जैसा किया, वैसा पाया। इस बेचारे अन्धे, अन्धी पर तो दया करो।

"—हाँ, हाँ, बाबू साहेब माफ करो!" एकत्रित जनसमूह ने एक स्वर से कहा।

"अच्छा" बकोटा सिंह बड़ी उदारता से बोला, मानों वह कोई बहुत बड़ा उपकार कर रहा हो! "आप इतने लोग, और यह बनारस वाली खुद जब कह रही है, तो छोड़ देता है। मगर अब जो फिर कभी ऐसी बदमाशी की तो अब नहीं छोड़ेगा।"

बकोटा सिंह ने उसे छोड़ दिया। अन्धे ने उसे पुकारा—टहला! आ—इधर आ अभागा!

"ऐं—टहला—!" आवाज इतनी स्पष्ट थी जैसे कभी सुनी हुई हो। रमा के हृदय में धक्का सा लगा। टहला! कौन टहला? मेरा भाई? और ये अन्धे-द्वय मेरे पिता, माता? आह—! हत्यारा हिन्दू समाज!"

इन विचारों ने रमा के हृदय को फौलादी हाथों से मसल डाला। वह भीड़ चीरती हुई पागलों सी सड़क के फुटपाथ पर खड़े उन तीनों दरिद्रों के पास पहुँच, आँखें फाड़-फाड़ कर बड़े ध्यान से उन्हें देखने लगी। रमा ने देखा, बाल्यावस्था में कुट्टी काटते समय उसके भाई राम टहल के बायें हाथ के अँगूठे का एक गिरह जो कट गया था, इस टहला का भी कटा है। रमा घबराई-सी टहला की सूरत पर आँखें गड़ाये सहसा बोल उठी—कौन भाई रामटहल!

ऐसी चिर-परिचित ध्वनि सुन, तीनों भिक्षुकों के कान खड़े हो गये। उन्हें ऐसा मालूम हुआ मानों उनका कोई अपना पुकार रहा है। टहला भी चकित-सा रमा की ओर देखता हुआ बोला—हाँ मेरा ही नाम रामटहल है, पर-पर अ-अ आप-प-प—!

"ठहर बे!" टहला को पीछे ढकेलता हुआ अन्धा आगे आया। लोग साश्चर्य, मौन धारण किये इस विचित्र अघट घटना को खड़े-

खड़े देख रहे थे। अन्धा बोला—हाँ, इसका नाम तो रामटहल है, पर आप कौन हैं? इसे कैसे जानती हैं?

'पहले यह बताइये, आपका नाम क्या है?' रमा ने अपने विश्वास की सत्यता को जानने के अभिप्राय से पूछा।

—मेरा नाम गोबरधन पाँड़े है।

रमा का अनुमान अब भयंकर सत्य के रूप में प्रकट हो गया। वह एक चीख के साथ वहीं फुटपाथ पर बैठ गयी। सन्तान की जन्मजात मातृ-पितृ ममता उमड़ पड़ी और वह सहश्र धाराओं में आँखों की राह प्रवाहित होने लगी। इतने दिनों के पश्चात् अपनी जननी, जनक और बन्धु की ऐसी कारुणिक, दुस्सह दुर्गति देख, रमा को अपनी वर्तमान स्थिति का ज्ञान तनक भी न रहा, वह ममत्व और कारुण्य के महाप्रवाह में प्रवाहित हो गया।

अन्धी घबड़कर बोली—अरे, यह तो मेरी रमा जैसी कोई रो रही है।

रमा दौड़कर अन्धी से लिपट गई। अंधी भी चिल्लाकर रो पड़ी। लोग आश्चर्य-चकित नेत्रों से यह जादू का तमाशा देख रहे थे। बकोटा सिंह जमादार भी भकू-सा खड़ा था। सहसा कोठे से रमा की दासियाँ दौड़ पड़ीं और रमा को पकड़कर ऊपर कोठे पर ले गईं। उन्होंने समझा, डाक्टर के कथनानुसार, इन दुखित प्राणियों का दारुण दुख देखकर ही इनका मस्तिष्क दूषित हो गया है।

३०

रमा के आज्ञानुसार उसके माता पिता और भ्राता कोठे पर बुला

लिये गये, सबों ने जी खोलकर रोया। हृदय की व्यथा आसुओं के रूप में आँखों से निकल गयी। शान्त होने पर पण्डित जी ने अपनी विपद्-कथा प्रारम्भ की—बेटी, जब तुम अपनी ससुराल से लांछित कर निकाल दी गई तो अभागे सुखराम ने फिर बिरादरीवालों तथा यजमानों में हो-हल्ला मचाया और परिणामस्वरूप मेरा बहिष्कार हो गया। पहली बार के ही बहिष्कार में मेरी कमर टूट गई थी। इस बार के बहिष्कार की आँच को हमारा परिवार न सँभाल सका। और जब बचा-खुचा अपना एक मकान तक परिवार की उदर-ज्वाला में समा गया, तो विवश हो लोटा-डोर उठाया और ग्राम-ग्राम भिक्षाटन जैसी घृणित वृत्ति स्वीकार करनी पड़ी। क्षुधा, तृषा, अपमान, वृद्धा-वस्था का कठिन परिश्रम, असह्य दुख, इन सब ने मिलकर मेरी और तुम्हारी माँ की आँखों की ज्योति छीन ली। रामटहल असमय में ही बूढ़ा हो गया। बेटी, मैं तुझे बलि देकर भी सुखी न हो सका। हमारे पाप सौ-सौ रूप धारण कर हमें सताने लगे।

कहते-कहते पंडित जी के नेत्र सिक्त हो गये। रमा उन्हें शान्त करती हुई बोली—पिता जी, आजकल सुखराम कहाँ और कैसे है ?

पंडित तोषभरे स्वरों में बोले—बेटी, जिन-जिन पापियों ने तुमसी सती कन्या के प्रति अन्याय किया वे सब-के-सब अपने कुकर्मों का फल भोग रहे हैं। पापी सुखराम को बलात्कार के अभियोग में १० वर्ष कारावास का दण्ड मिला है। चौबे कुएँ में डूब मरे। चौबाइन पागल होकर दर-दर मारी फिरती हैं। सारा परिवार, सारी सम्पति छिन्न-भिन्न हो गई। तुम्हारी ननद को, जिस हत्यारी के हथखंडों से तुम निकाली गई, श्वेतकुष्ठ हो गया है। बलराम की भी दशा अच्छी नहीं। उसकी गिरस्ती खराब हो गई है।

रमा ने संतोष की साँस ली।

पंडितानी बोलीं—बेटी, तुम यहाँ कैसे आई? यहाँ किसके संग रहती हो, क्या करती हो?

रमा ने बिना कुछ छिपाये आदि से अन्त तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया। अन्त में यह भी कहा कि अब इस घृणित जीवन का मैंने अन्त कर दिया है। रघुबीर यहीं मास्टरी करता है। उसे बुलाकर अपनी सारी सम्पत्ति उसके हाथ सौंप देने का मैं निश्चय कर चुकी हूँ।

इसी समय रमा के विषय में उड़ती हुई खबर सुनकर घबराया-सा रघुबीर वहाँ पहुँचा। रमा के कोठे पर आते ही उसकी दृष्टि पण्डित-परिवार पर पड़ी और वह उनके चरणों पर आ गिरा। पण्डित ने साश्चर्य पूछा—कौन हैं आप?

'रघुबीर बाबू हैं!" रमा ने उत्तर दिया।

"आह! मेरे बच्चे, मेरे लाल! शतायु हो!"—पण्डित के हृदय का जैसे कपाट खुल गया। उन्होंने बड़े प्रेम से रघुबीर के मस्तक पर हाथ फेरते हुए कहा—"भइया! तुम साक्षात देवता हो। समाज के भय का भूत यदि मुझपर सवार न होता तो आज ये बुरे दिन देखने को न मिलते। बेटा! हम सब तुम्हारी मंगल-कामना चाहते हैं! एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर पण्डित मौन हो गये।

अकस्मात् "अरे प्रधान जी!" कहती हुई रमा तेजी से उठी और अपने कक्ष में खड़े उस वृद्ध तपस्वी के पाँवों पर गिर पड़ी। रघुबीर ने भी उन्हें "नमस्ते" किया। पण्डित जी से इनका परिचय कराया गया। वृद्धों ने बड़े स्नेह से परस्पर आलिङ्गन किया।

प्रधान जी बोले—पुत्री, तुम्हारा तार पाकर मैं चला आ रहा हूँ। तुमने जो निश्चय किया है, उससे मुझे बड़ी प्रसन्नता है। इन रघुबीर बाबू का दर्शन पाकर तो मैं अत्यधिक आह्लादित हो गया हूँ।

जलपानादि के पश्चात् प्रधानजी ने पण्डित जी के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा—रमा का विवाह यदि रघुबीर बाबू से कर दिया जाय

तो क्या बुराई है ? रघुबीर और रमा का स्नेह और विश्वास बाल्य-काल से ही रहा है। दोनों ने एक दूसरे के हृदय को परख लिया है और रघुबीर बाबू अभी अविवाहित भी हैं।

प्रधान जी के प्रस्ताव से पण्डित जी का हृदय भीतर ही भीतर प्रसन्नता से विभोर हो उठा। उन्होंने कहा—प्रधान जी अब मैं भी इसी निर्णय पर पहुँचा हूँ कि धर्माधर्म का विवेचन करना बड़ा दुस्तर कार्य है। संसार के घात-प्रत्याघातों ने अब मेरी आँखें खोल दी हैं, मेरी समझ में ईश चरणानुराग ही श्रेष्ठ धर्म है। शादी-विवाह, जात-पात, छूआ-छूत, रीति-रस्म इत्यादि जितने भी बखेड़े, धर्म के नाम पर प्रचलित किये गये हैं, सब समाजवालों के ढकोसले हैं। अब मेरा विश्वास इनपर तिलमात्र भी नहीं रहा। किसी स्त्री का यदि शुद्धाचरण है तो वह एक पुरुष के देहावसान के बाद दूसरे पुरुषसे विवाह कर सकती है। वह कदापि नरकगामी या पथभ्रष्टा नहीं कही जा सकती। और साथ ही किसी माता पिता को यह अधिकार नहीं है कि वह अपनी पुत्री का विवाह अपनी स्वार्थ-पूर्ति की घृणित लिप्सा में किसी ऐसे वृद्ध, बधिर, पंगु और नालायक से कर दे, जिसे लड़की स्वप्न में भी प्यार न कर सकती हो। यह विवाह नहीं साक्षात् अधर्म है। यदि कोई विधवा चाहे वह किसी वर्ण की हो, वैधव्य के संय्यम और नियम-पालन में असमर्थ है तो उसे मार-मार कर सती बनाना सरासर अधर्म है। उसका अवश्य विवाह होना चाहिये।

पण्डित जी भावावेश में कहते गये—श्रीमान प्रधान जी ! अफ़-सोस ! इस अभागे-प्राणी को यह ज्ञान हुआ तब, जब भली तरह लुट गया। हृदय में तब साहस आया जब बुरी तरह घायल हो गया। मैं सत्य कहता हूँ प्रधानजी, कि इन सामाजिक कुरीतियों से मैं पर्याप्त रूप में दग्ध हो चुका हूँ, मुझे यह जात-पात का झगड़ा काफी सता चुका है। इसी जात-पाँत के शिकंजे में बुरी तरह पिस

जाने पर भी, इन त्रिपुण्डधारियों ने मेरा पिण्ड नहीं छोड़ा और मुझे ग्राम-निर्वासन-सा कठोर दण्ड भोगना पड़ा। अब शेष जीवन ईश्वर भजन में व्यतीत करने की ही एकमात्र अभिलाषा है।

पण्डितजी की अंधी आँखों से अजस्त्र अश्रुधारा तीव्रवेग से बहकर सूख गयी। प्रधानजी ने अब पण्डित जी को अधिक छेड़ना उचित नहीं समझा। चिन्ता के थपेड़ों में पड़कर वे अत्यन्त विह्वल हो रहे थे। अतः उन्होंने रमा की माता को संकेत कर पूछा—इसमें आपकी क्या सम्मति है ?

"मुझसे कुछ न पूछिये! रमा के सच्चे माता-पिता तो आप हैं। हमने तो इस साध्वी बेटी को इस दशा में पहुँचाया है। हमें क्या अधिकार है कि हम अपनी सम्मति दें। वधिक से भी कोई सम्मति माँगता है। आपने इसे बचाया, शरण दी, आप जो उचित समझें करें, हमें सब स्वीकार होगा। परन्तु एक प्रार्थना है, हम दोनों स्त्री पुरुष शरीर से नहीं, आँखों से भी लाचार हैं। हमारे भरणपोषण के लिये एक मुट्ठी अन्न और तन ढाँकने के लिये गजभर कपड़ा ही पर्याप्त है। मेरा पुत्र आपकी इस कृपा के लिये आपकी चाकरी करेगा।

रोकते-रोकते पण्डितानी की आँखों से अविरल अश्रुधारा बह चली। प्रधान जी उन्हें शान्त करते हुए बोले—माता जी, आप मुझ सेवक को इतना गौरव, इतना सम्मान प्रदान कर रही हैं, यह आपकी महान् उदारता है। आप यह सदा स्मरण रखें कि मैं आपका सेवक हूँ और सदा रहूँगा। रमा के सर्वेसर्वा आपही दोनों पति-पत्नी हैं। और भाई रामटहल जी मेरे भ्रातातुल्य हैं। सर्वप्रथम आप दोनों पति पत्नी की व्यवस्था करना हमारा प्रमुख धर्म होगा, आप इसके लिये निश्चिन्त रहें।

प्रधान जी ने अब अपना प्रस्ताव रघुबीर बाबू के सम्मुख रखा—

क्यों रघुबीर बाबू, मैं समझता हूँ मुझे आपसे कुछ विशेष निवेदन करने की आवश्यकता न पड़ेगी ?

रघुबीर ने लज्जावश सर झुका लिया।

'मौनं स्वीकृति लक्षणं' के सिद्धान्तानुसार प्रधाना जी ने रघुबीर के हृदय की बात जान ली। अब वे रमा की ओर अभिमुख हो उसकी स्वीकृति की प्रतीक्षा करने लगे।

रमा गंभीर स्वरों में बोली – "पूज्य प्रधान जी ! आप मेरे धर्म-पिता हैं, और आपके ही उपदेश से प्रभावित हो मैंने अपने इस नारकीय-जीवन की समाप्ति की है। आपकी आज्ञा मुझे सहर्ष और सदा स्वीकार होगी। परन्तु, इस विवाह के सम्बन्ध में मेरा एक निवेदन है, प्रार्थना है, आग्रह है। मुझे अब न तो संसार से प्रीति है, न संसार बसाने की रंचमात्र अभिलाषा। मैंने अपने इसी थोड़े से जीवन में संसार को परख लिया है। जैसा धोखा, जैसा छल और जैसा घात, प्रेम के पुनीत नामपर राक्षसों के इस महाप्रदेश में होता है, उसे देख मुझे सांसारिक जीवन से घोर घृणा हो गई है। हाँ, रघुबीर बाबू के प्रेम पर, हृदय पर, मनुष्यत्व पर मेरी अटूट श्रद्धा-भक्ति, विश्वास और आस्था है। परन्तु अफसोस ! अब मैं रघुबीर जैसे पवित्रात्मा के योग्य न रही। मैं अपनी दूषित-काया रघुबीर जैसे सत्पुरुष को समर्पित कर उनकी शुद्धता नष्ट करना नहीं चाहती। मैं जानती हूँ, रघुबीर की कृपा, रघुबीर का प्रेम मुझपर अपार है, अगाध है, परन्तु मैं उस प्रेम का अनुचित लाभ उठाना मानवता और पवित्र प्रेम के साथ घोर घात समझती हूँ।

३१

प्रधानजी का "विवाह-प्रस्ताव" रमा ने स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया। वह किसी प्रकार भी राजी न हुई। हाँ, रमा के इच्छानुसार प्रयाग शहर से थोड़ी दूर पर एक सुन्दर भव्य-भवन "अनाथ-अबला-आश्रम" के नाम से निर्माण हुआ, जिसमें भूली-भटकी, अनाथ, परित्यक्त नर-नारियों के भोजन-भरण की सुन्दर व्यवस्था की गई। इस आश्रम के कार्यसंचालन के निमित्त रमा की निजी सम्पत्ति से अस्सी हजार रुपये लगाये गये। प्रधान कार्यालय में स्वर्गीया ललिताबाई तथा रमा के सुन्दर तैलचित्र का उद्घाटन किया गया। आश्रम के प्रधानाध्यक्ष रघुबीर बा० तथा प्रधान जी बनाये गये। रघुबीर बाबू ने अपनी नौकरी और प्रधान जी ने अपने शहर के विधवा आश्रम का कार्य छोड़, अपने समस्त जीवन को इसी आश्रम की सेवा के हेतु अर्पित कर दिया। पंडित-दम्पति के लिये ऊपरी मंजिल में दो छोटे-छोटे कमरे बनवा दिये गये। रामटहल भी आश्रम का एक कार्यकर्त्ता नियुक्त किया गया। पंडित दम्पति बराबर ऊपर ही पड़े रहते। उन्हें किसी काम-काज से कुछ सरोकार नहीं रहता। यह सब कुछ हुआ परन्तु आश्रम-निर्माण के छः महीने बाद ही, रमा जाने कहाँ अकस्मात् अदृश्य हो गई। कई शहरों और ग्रामों में प्रधानजी ने चक्कर काटा, परंतु रमा की टोह नहीं ही लगी।

रघुबीर बाबू ने भी प्रायःसभी प्रमुख नगरों में उसे ढूँढ़ा। कहीं रमा के आने का पता मिला, कहीं नहीं। विवश हो, रघुबीर बाबू

जब फिर प्रयाग लौटे, तो प्रयाग की सड़क पर उन्होंने जो दृश्य देखा, उससे वे अवाक् रह गये। देखा, रघुनाथ खाकी रंग का एक मैला-फटा "हाफ-पैन्ट" और "हाफ-शर्ट" पहने था। उसके सभी हावभाव पगलों के सदृश थे।

रघुबीर को उसकी दशा पर बड़ा दुःख हुआ। उसे वह आश्रम लिवा ले गया। उसके लम्बे-लम्बे बढ़े हुए बालों को साफ करवाया। स्वच्छ नये कपड़े बदलवाये और भोजन करवाया।

अभागा रघुनाथ क्षुधा-पीड़ा से ही पागल हो रहा था। थोड़े ही दिनों में स्वस्थ हो गया।

स्वस्थ होने पर रमा के अदृश्य हो जाने के समाचार ने उसके हृदय पर गहरी चोट की। रमा के प्रति किये हुए पापाचरण को यादकर वह अधीर हो जाता और रमा के तैलचित्र के सामने घुटनों के बल वह प्रायः क्षमा की याचना किया करता।

× × × ×

एक दिन रघुबीर बाबू को एक पत्र मिला। उसे पढ़ते-पढ़ते उनकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बह निकली। कंठ अवरुद्ध हो गया। पत्र रमा का था। उसमें लिखा था:—

मेरे प्यारे रघुबीर!

प्रधान जी मुझे ढूँढ़ने निकले थे। तुमने भी भारत के प्रमुख नगरों को नहीं छोड़ा, पर मुझे न पा सके और पा भी न सकोगे। क्योंकि मेरे रहने का कोई खास स्थान नहीं। मुझे खोजने में तुम अपना अमूल्य समय नष्ट न करना। आज भारत के कोने-कोने में जो करोड़ों "रमा" अपनी हृदय-पीड़ा लिये तड़प रही हैं, वे ही तो मेरी प्रतिमूर्ति हैं। मैं उन्हीं में तो अन्तर्लीन हो गई हूँ। एक रमा के लिये व्यग्र न होना मेरे प्यारे रघुबीर! यदि तुम्हारा मुझपर वास्तविक

प्रेम है तो अपने विशाल उदार हृदय में इन करोड़ों निरावलंब "रमा" के लिये प्रेम, कृपा और दया रखना। इनकी रक्षा करना।

मेरे रघुबीर! मैं तुम्हारी हृदय-पीड़ा से परिचित हूँ, उसे अनुभव करती हूँ और अपनी ओर से तुम्हें यह विश्वास दिलाती हूँ कि उस पावन स्थान पर, जहाँ स्त्री-हृदय के प्रेम की पुनीत गंगा प्रवाहित होती रहती है, वहाँ तुम्हारे सिवा किसी के लिये रंचमात्र भी स्थान नहीं है। और इस जन्म में तो मैं तुम्हारे लिये कुछ न कर सकी, पर मुझे दृढ़ विश्वास है, अगले जन्म में मैं तुम्हारी सेवाकर धन्य होऊँगी।

तुमसे मेरी प्रार्थना है और मुझे पूर्ण आशा है, तुम मेरे पिता, माता और भाई पर कृपा रखोगे। मेरी धरोहरों को यत्नपूर्वक सँभालोगे। और मेरा मोह त्याग, तुम संसार की इन लाखों, करोड़ों 'रमा' की सेवा, सहायता और रक्षा में आजन्म लगे रहोगे। रघुनाथ को भी तुमने आश्रम में रख लिया है, इच्छा किया है। क्योंकि वह अभागा अब घृणा का नहीं अपितु दया का पात्र है। मेरा आश्रम चिरंजीवी रहे ऐसा प्रयत्न तुम सदा करते रहोगे। बाबूजी, माता जी और प्रधान जी को मेरा शतशः नमस्कार....और तुम्हारे चरणों में भी....!

तुम्हारी पतिता—
"रमा"

॥ इति ॥

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

३।।) छिन्न पत्र
४।।) चूड़ियाँ
३।।।) निर्मोही
२) लवँग
३।।) आहुति
२।।) पागल
२।।।) अकेला
३।।) बसेरा
४) कुंकुम
४) पगडण्डी
४) अँगड़ाई
३।।) खँड़हर
३।।) पायल
२।।।) अनारकली
३।।) चितवन
४) बहते आँसू
४) जय कच्छ
२) नीलमणि
३।।) पपीहा बोले आधरा
१।।।) अदल-बदल
२।।) सहारा
३।।) कालीघटा
३।।) मकड़ी का जाल
२।।) तारों भरी रात
३) आवारा
२।।) महाकवि साँड़
२।।) इशारा
२।।) जलन
३।।) भँवरा
४) मञ्जिल
५।।) नीलम
२) मजार का दीया
४) पापी
३।।) रात और राही
२।।) जापान यात्री
३।।) धड़कन
३।।) मुमताज
३) पीली कोठी
३) सोलह अगस्त
५) सूखे पत्ते
२।।) बदरी की रात
२।।।) रक्त की प्यास
२) नरमेध
३।।) दो किनारे
२।) मन्दिर की नर्त्तकी
२।।।) चौरङ्गी
२।।) आशियाना
३।।) ललकार
२।।।) साँवरिया
३।।) काजल
२।।) कागज के फूल
१।।) मेरे राम का फैसला